शीराज़ा

हिन्दी

५५

नयी कलम विशेषांक



मू एण्ड कश्मीर अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू

५५ **शीराज़ा**

द्विमासिक **नयी कलम विशेषांक** **हिन्दी**

प्रमुख सम्पादक : मुहम्मद यूसुफ टेंग सम्पादक : रमेश मेहता

वर्ष : १६ / अंक : ५ (फरवरी-मार्च, १९८१) ; **सम्पादकीय पत्र व्यवहार :** रमेश मेहता, सम्पादक : शीराज़ा हिन्दी, जे० एण्ड के० कल्चरल अकादमी, नहर मार्ग, जम्मू ;

फोन : ५०४० **यह अंक :** दो रुपये **वार्षिक शुल्क :** दस रुपये

अनुक्रमणिका

हास्य व्यंग्य

कविताएं

स्थायी स्तम्भ

मुखपृष्ठ : जम्मू के जाने-माने हिन्दी कवि स्व० बंसी लाल सूरी (१९१३–१९७०)
प्र० कृ० : सहस्रमुखी (कविता-संग्रह)

अपनी बात

★

अपने समय के कुछ प्रतिष्ठित हस्ताक्षरों के साथ इस अंक में अनेक नये हस्ताक्षर अपनी चमक दिखा रहे हैं । इन नए हस्ताक्षरों में अधिकांश महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों से जुड़े हुए हैं । कुछ ऐसे भी हस्ताक्षर हैं जो अध्यापक होने के नाते विद्यालयों में हिन्दी साहित्य की 'प्रगति' की झलक प्रस्तुत करते हैं ।

विदेशों की भांति, इधर, अपने देश में भी "कैम्पस राइटिंग" की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है । इस लेखन का अध्ययन करने से दो रोचक तथ्य हमारे सामने आते हैं । प्रथम तथ्य तो यह है कि जिन महाविद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में समकालीन लेखन की समझ रखने वाले लोग अपनी सार्थक भूमिका निभाते हुए गोष्ठियों आदि की व्यवस्था करते हैं; हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकारों को बुलाकर विभाग में उनका सम्मान करते हुए छात्रों से उन्हें परिचित करवाते हैं तथा छात्रों के लेखन को अधकचरेपन के बावजूद प्रोत्साहित करते हैं—वहां हिन्दी के आधुनिक सम्वेदना से युक्त साहित्य के उज्ज्वल भविष्य को लक्षित किया जा सकता है । दूसरा तथ्य, जो महत्त्वपूर्ण भी है, यह है कि जिन विश्वविद्यालयों का पाठ्यक्रम आज भी प्रसाद अथवा 'अज्ञेय' से आगे नहीं बढ़ा है वहां के लेखक अभी भी वीरगाथा काल और रीतिकाल या छायावाद की विशेषताओं से युक्त रचनाओं की सृष्टि में संतोष का अनुभव करते हैं । पिछले दिनों एक विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में आज के सर्वाधिक चर्चित कवियों को ले जाने पर बड़ा मजेदार दृश्य उपस्थित हो गया । विद्यार्थी तो इन कवियों के नाम से नितान्त अनभिज्ञ थे ही, विभाग के अध्यक्ष तथा अन्य वरिष्ठ प्राध्यापकों का भी उन कवियों की रचनाओं से कोई खास परिचय नहीं था । अतः गोल-मोल ढंग से उन कवियों का परिचय छात्र-छात्राओं से करवा कर छुट्टी पा ली गई । अब आधुनिकता बोध से सम्पन्न इन कवियों ने जो कुछ वहां कहा, वह सब लोगों के ऊपर ऊपर से गुजर गया क्योंकि जिस शब्दावली का यह कविगण उपयोग कर रहे थे उसका प्रवेश इस विभाग में वर्जित माना जाता है ।

मुझे इस बात को स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं है कि मैं स्वयं हिन्दी साहित्य

के सभी कालों के साहित्य— विशेष रूप से कविता—का आस्वादन करने में विशेष रस पाता हूं किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं कि 'इक्कीसवीं सदी के प्रवेश द्वार' पर खड़े होकर भी मैं सोलहवीं शताब्दी को ही जीता रहूं ? जीवन में सामंजस्य की आज जितनी आवश्यकता है शायद हमारे इतिहास में कभी भी नहीं रही । मूल्यों के विघटन, दोहरेपन और निर्माण के जिस दौर में से हम गुजर रहे हैं उसमें यदि हम अपने को आज के संदर्भों से काट कर रखेंगे तो हमें कूपमंडूक बने रहने से कोई भी नहीं रोक सकेगा ।

विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में सन् पचास अथवा साठ के बाद के लेखकों की रचनाओं को शामिल करने अथवा न करने के संदर्भ में अनेक तर्क दिये जा सकते हैं । किन्तु विश्वविद्यालयों के 'हिन्दी विभागों' में 'साहित्य परिषद' जैसी संस्थाओं की स्थापना से किसी का कोई अहित नहीं होगा—यह निश्चित है । यह भी तय है कि इस प्रकार की संस्थाएं आज के लेखक और पाठक के बीच वर्तमान दूरी को पाटने में जितनी प्रभावी भूमिका निभा सकती हैं वैसा कोई भी अन्य संस्था नहीं कर सकती / नहीं कर पायेगी । दूसरे, नये लेखकों को प्रोत्साहन देकर साहित्य की श्रीवृद्धि करने में भी इन संस्थाओं से बढ़कर अन्य कोई संस्था योगदान नहीं कर पायेगी क्योंकि यह संस्थायें उन पाठशालाओं के समान हैं जिनमें बालक अक्षर ज्ञान अर्जित करता है ताकि आगे चलकर वह ज्ञान-विज्ञान की दुनिया में गहरे पैठ सके ।

●

खेद है कि कारणवश **आपकी बात** को फिर रोकना पड़ रहा है । अगले अंक में **आपकी बात** स्तम्भ निश्चित रूप से दिया जायेगा । आपकी प्रतिक्रियाओं की प्रतीक्षा रहेगी ।

— रमेश मेहता

विशेष लेख

विवाह—एक संज्ञा के गले में लिपटे प्रश्न ही प्रश्न

['मेरी तेरी उसकी बात' के संदर्भ में]

—रेणु मंगोत्रा

'**मेरी तेरी उसकी बात** में एक ओर सेठ रतन लाल हैं जो पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हुए एक पत्नी, एक प्रेमिका के सिद्धान्त पर अमल करते हुए ज़िन्दगी जी रहे हैं तो दूसरी ओर अमर है जो पत्नी को सिद्धान्त रूप में प्रेमिका भी मानता है और लक्ष्य की साथी भी। उषा के माध्यम से विवाह-संस्था का विश्लेषण करते हुए यशपाल कहते हैं—''सभी समाजवादी मानते हैं कि वर्तमान विवाह और परिवार व्यवस्था, सम्पत्ति पर निजी या पारिवारिक स्वामित्व की अर्थव्यवस्था का ही अनुशंग है। आप लोग उस व्यवस्था को बदल चुकी परिस्थितियों में जीर्ण, अनेक शोषणों और दमन का कारण मानते हैं। व्यवस्था को बदलने की मांग ही क्रान्ति की मांग। वर्तमान विवाह या परिवार व्यवस्था भी, चाहे उसे एक समय स्वेच्छा से स्वीकार किया गया, उसी व्यवस्था का परिणाम बंधन है। ···कभी तो इससे विद्रोह करना ही होगा।'' यहीं यह प्रश्न भी उठता है कि विद्रोह का ध्वज धारण कौन करेगा? पाठक के अनुसार समस्या यह है कि ''प्रजा की स्वतंत्रता का विरोध स्वयं प्रजा द्वारा या स्त्री के दमन का सबसे बड़ा समर्थन स्वयं स्त्रियों द्वारा,'' किया जाता है। इसीलिए आवेश में आकर यशपाल कहने लगते हैं—''किसकी आज़ादी आ रही है, कौन है प्रगतिशील? प्रगतिशील का अर्थ केवल अंग्रेजों को हटाना? गले में स्वयं डाले फंदों से आज़ादी नहीं। इस देश के लोग खासकर औरतें वैयक्तिक स्वतंत्रता को पाप समझें, आत्महनन को धर्म-निष्ठा, उन्हें कौन स्वतंत्र कर सकेगा।''

उपन्यास में एक ओर विधवा नारी गौरी है जो संयम, रूढ़ियों के पालन में गौरव और संतोष का अनुभव करती है तो दूसरी ओर उसके भैया हरि जी हैं जो ''गांधी जी के

उपदेशानुसार पत्नी को बहन मानना चाहते थे। परन्तु बहू की गोद हरी हो गयी।" और एक बार जब गोद हरी हो गई तो फिर हरी-भरी होती रही। उधर उनकी पत्नी गृहस्थी की गाड़ी को जैसे-तैसे खींच रही थी और इधर हरि भैया कांग्रेस और देश का काम कर रहे थे। अंततः उनकी पत्नी सारी टूटन को सहेज कर भी उनसे निबाह ले जाती है और परिवार टूटने से बचा रहता है।

किन्तु अमर-उषा के प्रसंग में स्थिति दूसरी है। अमर से उसके पिता जब भी शादी की बात चलाते वह उनका विरोध करता था क्योंकि, "पत्नी की कल्पना वह विचारों और कर्मक्षेत्र की अभिन्न संगिनी और सहयोगिनी के रूप में करता। ···विवाह के लिए पहली शर्त : प्रगतिशील आदर्शों के अनुसार, युवक-युवती में प्रेम आकर्षण, एक दूसरे को संगी-साथी के रूप में अत्यावश्यक, अपरिहार्य समझना। विवाह के लिए लड़की के चुनाव को वह बीज-गणित का प्रश्न मानने के लिए तैयार न था; लड़की + अच्छी जाति-गोत्र + अच्छा स्वभाव + अच्छा रूप-रंग + अच्छा दहेज = अच्छा ब्याह।" उधर उसका मित्र रज़ा है जो निरन्तर उसे चेतावनी देता रहता है—"बच सको तो इस फदे में मत फंसना·· हम देख रहे हैं इस फंदे के अन्दर बाहर फदे। फदा सिर्फ जिस्मानी नहीं, दिमाग को भी जकड़ लेता है।" किन्तु अमर पर रज़ा की चेतावनी का विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता क्योंकि गौरी के प्रसंग में वह स्पष्ट स्वीकारता है—"ब्याह तो सामान्य प्राकृतिक आवश्यकता।" फिर भी उसे लगता है कि यदि आदमी विवाह नहीं ही करना चाहे तो उसके सामने दूसरे उद्देश्य और लक्ष्य भी हो सकते हैं। फलतः वह अपने पिता सेठ रतन लाल की बातों से बचता हुआ शादी की बात को प्रायः टाल दिया करता है किन्तु एकाएक परिस्थितियां कुछ ऐसी बनती हैं कि वह मिस उषा पंडित से शादी कर लेने को विवश हो जाता है। जिस प्रकार शादी-ब्याह के बारे में सेठ की अपनी कुछ मान्यताएं हैं उसी प्रकार उषा के भी इस संदर्भ में अपने विचार हैं। उसकी कोमल कान्त कल्पनाओं को जब निर्मल चन्द्र पंत धराशायी कर देते हैं तो वह सोचती है—"···शारीरिक प्रवृत्ति की पूर्ति के लिए पति-पत्नी का सम्बन्ध आवश्यक होता है परन्तु क्या उस प्रवृत्ति के लिए पूरी ज़िन्दगी बरबाद कर दी जाये। ···मिसेज सिंह, मिसेज चौहान, मिसेज पंडित क्या हैं?—किचन-कपड़े, बच्चों का गू-मूत, मकान-सफाई, हस्बैंड की घुड़कियां, कभी थप्पड़-लात घूंसे भी।" दोनों प्राणी इस प्रेम बन्धन को इस शर्त पर विवाह-बन्धन में बदलने को प्रस्तुत होते हैं कि दोनों एक दूसरे को लक्ष्य का साथी समझेंगे। किन्तु इतने प्रगतिशील ढंग से करवाये गये विवाह के बाद घर में प्रवेश परम्परागत ढंग से ही होता है—"पुष्पा ने रीति अनुकूल ड्योढ़ी पर तेल चुआ कर बहू को स्वागत से आलिंगन में लेकर प्रवेश कराया।" इस पर भी नगर के अखबारों में समाचार प्रकाशित हुए थे कि "नेताओं ने वर-वधू के संकीर्ण साम्प्रदायिकता से मुक्त होकर, मानव सेवा की उदात्त भावना से परस्पर सहयोग के लिए विवाह की उन्मुक्त प्रशंसा की थी।"

समय बीतने के साथ यह "आदर्श विवाह" भी "परम्परागत" प्रमाणित होने लगता है। अमर के भीतर का पुरुष पत्नी से अपने को श्रेष्ठ मानने के दम्भ से बच नहीं पाता है। उधर

उषा भी अपने को निरन्तर कुचलते रहने को प्रस्तुत नहीं है। परिणामस्वरूप दोनों के सम्बंधों में दरारें गहराने लगती हैं। एक बार उषा की सहेली चित्रा के संदर्भ में बात चलने पर स्पष्ट होता है कि उसका पति उसे तुच्छ मानता है तथा उससे यह अपेक्षा करता है कि वह केवल अपना हक ले ले और संतुष्ट रहे। उसके बाद पति क्या करता है उसके संदर्भ में चिंता करने का उसे कोई कारण नहीं होना चाहिए। उधर चित्रा अपना सर्वस्व देकर उन्हें सम्पूर्ण पा लेने, दासी बन कर स्वामिनी बन जाने के स्वप्नों में खो जाने को धोखा मानती है। इसी प्रसंग में उषा को लगने लगता है कि "औरत होना ही बदकिस्मती" है। उसकी इस भावना की पुष्टि तब होती है जब नरेन्द्र पत्नी की स्थिति को निम्न प्रकार से परिभाषित करता है—"जब तक वह निर्वाह के लिए पति की मोहताज, वह केवल पति की जरूरत और संतोष की चीज़। उसकी अपनी कोई हस्ती नहीं।" उषा को लगता है कि पत्नी का इससे अधिक अपमान नहीं किया जा सकता और वह फट पड़ती है। इसी बीच उषा और अमर में टकराव की स्थितियां गहरी होती जाती हैं और दोनों इस बंधन में घुटन अनुभव करने लगते हैं। अमर का मत है कि उन्होंने यह शादी किसी सामाजिक अथवा पारिवारिक दबाव में आकर नहीं की थी अतः यदि वे दोनों एक दूसरे से संतुष्ट नहीं हैं तो उन्हें अपने भविष्य के सम्बंध में फैसला लेने की खुली छूट होनी चाहिए। उधर उषा यह मानती है कि वह सदा स्वयं को कुचलती रहे—यह उसे सह्य नहीं होगा। आखिर वह कह देती है—"अब फिर चुनना है तो…इट इज़ नॉट यू।" और इस प्रकार यशपाल फिर एक बार प्रेम-विवाह को विच्छेद के कगार पर ला खड़ा करते हैं। इस टूटन की शर्म से बचने के लिए वह अंततः अमर की मृत्यु दिखला कर उषा को मुक्ति दिला देते हैं।

अमर से मुक्ति पाकर, अमर के ही आदेश का पालन करते हुए उषा स्वतंत्रता-संग्राम में सक्रिय होकर भाग लेने लगती है। इस बीच अपने पूर्व-परिचित पाठक से उसका प्रेम हो जाता है जो बढ़ते-बढ़ते शारीरिक-सम्पर्क में बदल जाता है। यहां आकर उषा के संस्कार प्रबल हो उठते हैं और उसे ऐसा लगने लगता है कि इसमें कहीं कुछ ऐसा भी है जिसे अनैतिक कहा जा सकता है। परिणामस्वरूप वह पाठक से विधिवत् विवाह करने का आग्रह करती है। तय यह होता है कि वे दोनों लखनऊ पहुंच कर पहला काम विधि-सम्मत तरीके से विवाह करने का करेंगे। इसी संदर्भ में हरि भैया की टिप्पणी भी दृष्टव्य है—"समाज में व्यवस्था के लिए सामाजिक आचरण का संयम अनुशासन आवश्यक। आपने कहा, लौट कर सिविल मैरेज करेंगे। इसका स्पष्ट अर्थ—अपने वर्तमान सम्बंध को उचित न मानना।" अंत तक पहुंचते-पहुंचते यशपाल उषा को विवाह के झंझट में पुनः फंसने से, प्रताप की आड़ लेकर, रोक देते हैं और इस प्रकार अंततः यह निर्णय दोहराते हैं कि विवाह-संस्था का कोई लाभ नहीं है क्योंकि इसमें स्त्री तथा पुरुष के स्वार्थों एवं सम्मान की टकराहट होना अनिवार्य है। यहां वह अपने इस कथन की पुष्टि करते दिखाई देते हैं, "विवाह जीवन की पूर्णता के लिए आजीवन प्रेम का सम्बंध नहीं, मजबूरी है। युवक-युवती की भेंट में प्राकृतिक उद्वेग से सन्तान का बोझ आ

पड़ना···शेष जीवन उस बोझ को निबाहने की मजबूरी। हमारी बिरादरी, समाज में पत्नी प्रेम नहीं, विवशता में स्वामिभक्ति निभाती है।"

यह समझा जाता है कि मुस्लमानों में तथा ईसाइयों में विवाह को लेकर उतनी कट्टरता नहीं जितनी हिन्दुओं में है। शायद इसीलिए यशपाल ने इनकी भा ढोल की पोल खोलकर रख दी है। अमर का मित्र रज़ा एक निम्न-मध्यवित्त परिवार से सम्बंध रखता है जिसमें डॉक्टर बनने की अभिलाषा बड़ी बलवती है। क्योंकि उसके पिता उसे डॉक्टरी पढ़ने का खर्चा देने में असमर्थ हैं अतः वे शम्सुद्दीन की बेटी गेती से उसका रिश्ता इस शर्त पर तय कर देते हैं कि शम्सुद्दीन रज़ा की पढ़ाई का सारा खर्च स्वयं वहन करेंगे। किन्तु शादी के बाद से ही रज़ा को अनुभव होने लगता है कि कीमत जितनी आंकी गई थी उससे कुछ ज्यादा ही चुकाना पड़ रही है—"रज़ा ने शुरू से ही महसूस किया, गेती का व्यवहार आम बीवियों की तरह आश्रिता या अधीन का न था। वह राय दे सकता था, निर्णय उसकी सास और बीवी का होता।" स्पष्ट है कि उसकी सास और बीवी को निर्णय का अधिकार आर्थिक बरतरी के कारण प्राप्त था। फलस्वरूप जब रज़ा पढ़ाई पूरी करने के बाद नौकरी करने लगा तो उसके पैंतरे भी बदल गये और घर में कलह ने घर कर लिया। अब वह महसूस करने लगा था कि, "चाहे जैसा गलत काम या गुनाह हो जाये, मुआविजा देकर निजात मिल सकती है लेकिन गलत शादी और उसके नतीजे से निजात नामुमकिन। दो बच्चे न हो गये होते, हम मेहर का कर्ज ज़िन्दगी भर किश्तें देकर चुका देते··· ।" समस्या उस समय अधिक गम्भीर हो जाती है जब रज़ा स्वीकारोक्ति करता है कि "मैं गेती को अपने अनुकूल बनाने में असफल रहा, उसके अनुकूल बनना नामंजूर···मुझे उसकी प्रकृति से ऊब, उसे मुझसे सन्तोष नहीं।" इसका एक प्रमुख कारण दोनों की प्रकृति में मूलभूत अन्तर है। गेती में "सैडिस्टिक टैंडेंसी" है और रज़ा उसमें भागीदार बनना नहीं चाहता। फलस्वरूप दोनों में समझौते की सम्भावनायें धूमिल होती जाती हैं। और उनकी गृहस्थी की गाड़ी ज्यों-त्यों करके घिसटती जाती है।

ईसाई धर्म के अपने विरोधाभास हैं। ईवा का कथन अवलोकनीय है—"अपने हस्बेंड से बड़ी चीज़ दुनिया में कुछ नहीं लेकिन आदमी ढंग का हो तब न। नहीं तो ज़िन्दगी की सबसे बड़ी मुसीबत। सब लोगों का अपना-अपना ढंग है। प्रोटस्टेंट लोगों में पति-पत्नी में साथ दूभर हो जाये तो डाइवोर्स हो सकता है। हमारे कैथोलिक रिलीजन में डाइवोर्स भी नहीं।"

वस्तुतः धर्म कोई भी हो पुरुष-सत्ताक समाज की प्रवृत्ति एक ही है। यशपाल स्पष्ट कहते हैं कि, "पुरुष निजी स्वार्थ और सेवा के प्रयोजन से स्त्रियों को पशुओं की तरह अपनी सम्पत्ति बनाये रखने के लिए स्त्रियों को उपदेश देते आये हैं कि ईश्वर ने नारी को पुरुष की सम्पत्ति बनाया है। स्त्री का सबसे बड़ा धर्म पति को संतुष्ट रखना और पति की आज्ञा का पालन है।" वस्तुतः नारी की सामाजिक स्थिति उसकी पारिवारिक स्थिति का निर्धारण करती है। उषा को इस स्थिति के प्रति क्रोध हो आता है तो सेठ उसे यह कह कर और भड़का देता है कि, "मज़हबी लोग औरत को लैट्रिन समझते हैं। सेहत और आराम के लिए

मकान में जरूरी। उसे एहतियात से साफ रखना जरूरी लेकिन चीज गन्दी है।" ऐसी स्थिति में किसी भी धर्म या समाज में नारी को पत्नी के रूप में समान अधिकार या अवसर दिए जाने की सिफारिश नहीं की गई है। हां, "नारी को पूर्णतः पुरुष के समान राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक समान अधिकार और अवसर का सिद्धांत समाजवाद ने ही स्वीकार किया है। समाजवाद नारी को पुरुष के समान समाज की अंग मानता है।" यह अलग बात है कि समाजवाद की यह मान्यता भी महज़ 'सिद्धांत' तक सीमित है।

नारी की विडम्बना यह है कि समाज में उसे प्रत्येक अवस्था में समाज की मान्यताओं के अधीन रहना पड़ता है। "मेरी तरी उसकी बात" में चित्रा के ये शब्द उसकी पीड़ा को सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं—"लड़कियों के लिए तो शादी दिल्ली के लड्डू हैं। जिसे न मिले पछताये, जो खाये सो पछताये। मर्दों के आराम, संतोष का इंतज़ाम। अपने परिवार बिरादरी में नित्य देख रहे हैं। प्रेम-निष्ठा मर्दों की रीझ और औरतों का धर्म। मर्दों को जो ज़रूरत हो, जैसा मन चाहे, सब जायज़...।" औरत में खोट हो तो मर्द दूसरी औरत ले आयेगा किन्तु यदि मर्द में खोट हो तो औरत क्या करे?—समाज इसका कोई उपाय सुझाने से कतरा जाता है। कुंवारी लड़की की मुसीबत देखिये, "लड़की परिवारों की सम्पत्ति मात्र, उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं। सामन्तवादी-पूंजीवादी समाज की दासता की मान्यतायें।" यदि नारी विधवा हो जाये तो उसके दुःखों की सीमा नहीं। शोषण की इस चरमावस्था को देखकर ही यशपाल यह कहने को विवश हुए होंगे, "भारतीय नारी का अर्थ रूढ़िग्रस्त ब्राह्मण, क्षत्री, बनिया, कायस्थ विधवा! हिन्दू विधवा को केवल एक तप, धर्म-निष्ठा से रंडापा निबाहना। विधवा के मृत पति के साथ जल मरने के धर्म से इस देश का माथा ऊंचा। यहां के पुरुषों की लम्पटता से देश का माथा नहीं झुकता...।"

"मेरी तेरी उसकी बात" में जितने भी वैवाहिक जोड़े हैं उनका जीवन इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि विवाह-संस्था कभी किसी समय कितनी भी महत्त्वपूर्ण क्यों न रही हो, आज वह जी का जंजाल बन गई है और इससे छुटकारा पाने के उपाय खोजना नितांत आवश्यक हो गया है।

———

● १४७–पक्काडंगा, जम्मू

कविता

अपनापन, नहीं मिलता

—ओम प्रकाश शर्मा

शोकग्रस्त
हो जाता जब
मनुष्य का चंचल मन
पवन की भांति
हिलोरे लेता है
उसके
भीतर उदास जीवन और
जीने की सभी आशाएं
लुप्त हो जाती हैं

सूनी पड़ जाती हैं
ज़िन्दगी की राहें
चहुँ ओर छा जाता है
घना-काला अंधकार
समाप्त हो जाता है
एहसास का भी एहसास और
शिथिल हो जाता है अंग-अंग

उफ ! क्यों नहीं मिलता
कहीं भी—
अपनापन !

———

● गुड़ा ब्राह्मणां, अखनूर (जम्मू)

कविता

कहीं बैसाखी छूट न जाए

—कृष्णा गुप्ता

न जाने कितनी दूरी
मंज़िल की बाकी है अब तक।

एक एक पग गिन धरना है
पहुँच न पायेंगे जब तक।
राह गगन के ओर शोर तक
चली जा रही नित अविरत।
कदम सांस के ठिठक न जाएं
ज्योति दीप के जलने तक।
न जाने कितनी दूरी
मंज़िल की बाकी है अब तक।

राह अनोखी है दीपों पर
कदम सांस धर चलना है।
सारा शून्य अपूर्व मोतियों
के ढेरों से भरना है।
सारे सुमन खिलाने हैं
शृंगार चरण में झरना है।
कहीं अधूरे रह न जाएं
अन्तिम पग के धरने तक।
न जाने कितनी दूरी
मंज़िल की बाकी है अब तक।

बहुत बार चलते चलते पग
फिसल फिसल गिर जाते हैं।
बहुत बार भय और प्रलोभन
के साए धमकाते हैं।
बहुत बार बन्धन के धागे
जंजीरें बन जाते हैं।
कहीं बैसाखी छूट न जाए
सारे कंकड़ गलने तक।
न जाने कितनी दूरी
मंज़िल को बाकी है अब तक।

——

● द्वारा श्री के० आर० गुप्ता
प्रभारी अभियन्ता, आकाशवाणी, जम्मू

कहानी

भीतरी सन्नाटा

—संजना कौल

ललिता आज कॉलेज से कुछ जल्दी ही लौट आई थी। दरवाज़ा खोलते ही वह एक ही सांस में सीढ़ियां चढ़ जाती है और पर्स को मेज़ पर पटक कर अपने आपको चारपाई पर डाल देती है। वेहद क्लांत, टूटी-टूटी मानो सारी शक्ति बूंद-बूंद होकर ढरती जा रही हो। नींद भी तो नहीं आएगी और ज़रा देर के लिए झपकी ले भी ले तो रात में कुछ घंटों के लिए भी सोना हराम हो जाएगा। जब तक बच्चे नहीं आ जाते, तब तक तो इसी तरह कमरे की रुकी हुई, निस्तब्ध हवा में घुटना होगा—भीतर-बाहर की शक्तिहीनता के साथ ही अजनबियत के यथार्थ को स्वीकारते हुए, जीवन की व्यर्थता को अन्दर तक महसूसते हुए।

चार वजे तक बच्चे आ जाएंगे और खा-पी कर अंजु थोड़ी देर पढ़ने बैठ जाएगी, हितेन्द्र खेलने निकल पड़ेगा। उसके बाद फिर एक उबाऊ अन्तराल, रात के आठ-नौ बजे तक …जब वह पुरुष घर आ जाएगा जिसके साथ वह पत्नी रूप में बंधी हुई है।

अपने दैनिक जीवन का आधे से भी अधिक हिस्सा ललिता इन्हीं खाली-खाली क्षणों को अर्पित कर देती है और भीतर तक रीता कर जाती हैं उसे ये लम्बी खामोशियां। ऐसे क्षणों में अनायास ही वह बीते हुए वर्षों की ओर मुड़ कर देर तक जीवन के उस टुकड़े को जीती रहती है और न चाहते हुए भी उन वर्षों और अपने वर्तमान का तुलनात्मक अध्ययन करती रहती है।

अभी कुछ ही दिन पहले मम्मी-पापा से मिलने गई थी। मम्मी का स्वास्थ्य कितना गिर गया है! स्वयं पापा भी डायबिटिक हैं और पिछले कुछ महीनों में अधिक ही दुर्बल हो गए हैं, परन्तु उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता, उनका रोबीलापन अभी भी बना हुआ है। अपनी सबसे छोटी बेटी उर्मिल की शादी करने के बाद अब वे एकदम निश्चिन्त हो गए हैं और दिन-रात किताबों में खोए रहते हैं, ज्ञानार्जन कर रहे हैं। बौद्धिक दम्भ, विद्वत्ता का अहंकार! विद्रूप में ललिता होंठों को टेढ़ा कर लेती है।

अंग्रेज़ी साहित्य के विद्वान् और अंग्रेज़ियत के भक्त पापा के अपने सामंती संस्कार थे और आज ललिता को लगता है, पापा के यही संस्कार स्वयं उसके अवचेतन में भी अंकुरित हो चुके थे। वही अहम् भावना, विशिष्टता की ग्रन्थि और साथ ही भावुक कवि-मन। वह पूरी तरह अपने में केन्द्रित होकर रह गई।

आज वह महसूस करती है, एक सीमा तक विद्रोही होना कितना आवश्यक है और ज़रूरत से ज्यादा भावुक, सम्वेदनशील होना जीवन के लिए कितना बड़ा अभिशाप, कितनी बड़ी मानसिक यंत्रणा है। कॉलेज में लेक्चरर लगे हुए उसे दो साल हो चुके थे और मम्मी-पापा उसके विवाह के लिए परेशान थे। कितनी बौनी बन गई थी वह उस दिन अपनी ही दृष्टि में ! "ठीक है, लड़का गांव का है और काफी लम्बे-चौड़े परिवार का है। यह भी मानता हूं कि उसकी उमर ललिता से थोड़ी अधिक है, पर तुम यह भी तो सोचो कि ललिता जैसी लड़की के लिए और कैसा लड़का उपयुक्त रहेगा। एकदम सीधी-सादी लड़की, स्मार्टनैस की दौड़ में बहुत पीछे छूट गई है। फिर पिछले ही साल 'ऑरथ्राइट्स' ने भी दबोच लिया जिससे आज तक उबर नहीं पाई है। ऐसी कमज़ोर बीमार लड़की के लिए और कौन सा लड़का ठीक रहेगा, तुम्हीं बताओ, तुम जानो, यह हमारा समाज ऐसा कमीना है, लड़कियां ज़रा सी भी बीमार हो जाएं, उनके नाम अकेलेपन की नियति लिख देता है।"

ललिता अन्दर के कमरे में बैठी पढ़ाने के लिए नोट्स तैयार कर रही थी। उसने सारी बातें सुन ली थीं और एकाएक उसकी टांगों का दर्द बड़ी शिद्दत के साथ उभर आया था। बस, अब पंगु बनकर रहेगी वह पूरी तरह। शरीर तो मरीज़ है ही, मन भी रोगी हो जाएगा।

इस रिश्ते पर आपत्ति करने की उसने आवश्यकता ही नहीं समझी। किस मुंह से, कौन सी शक्ति लेकर कुछ कहे ? सारा आत्म-विश्वास, सारी अहम्मन्यता न जाने कहां तिरोहित हो गई थी। उसे अपना आप बहुत अधिक कमज़ोर लगने लगा था ; बेकार ठीकरे से भी गया-बीता।

उसने विशाल को देखा, एकाध बार उसके साथ घूम-फिर ली और उसे लगा था, जीवन के उन अछूते, रोमांचकारी क्षणों में से एक रीतापन छन-छन कर उसके भीतर जमता जा रहा है। एक बर्फीलापन, न उल्लास, न उदासीनता, न पीड़ा, न कोई रोमांच।

और कुछ ही महीनों बाद वह विशाल की पत्नी बन गई थी। नया घर, एकदम नया परिवेश ; उसके घर के लोगों से बिल्कुल अलग संस्कार रखने वाले लोग। वह जी-जान से नई दुनिया से एकाकार होने की कोशिश में जुट गई थी।

वह लेटे-लेटे करवट बदल लेती है। नए परिवेश को अपना लेने का, उसमें घुलने का यह प्रयत्न कब और क्यों उसे उन लोगों से और अधिक दूर ले गया, उसकी समझ में नहीं आता। वक्त-बेवक्त की आलोचना से उसका मन खट्टा हो गया था। उसका सौन्दर्य, कवि-स्वभाव, उसकी नफासत पसन्दी क्यों उन लोगों की आंखों में खटकने लगी थी, वह कोई तर्कपूर्ण

कारण नहीं खोज पाई। मध्यवर्गीय मानसिकता! उसने सोचा और विशाल के साथ आकर मम्मी-पापा के यहां रहने लगी।

विशाल! लम्बी सांस छोड़ती है वह। बन्धन में बंध कर भी कितने अलग-अलग हैं वे! एक ही छत के नीचे रहते हुए भी दो छोरों पर खड़े दो प्राणी, जिन्हें एक सामाजिक बन्धन ने जीवन-साथी की सनद दे डाली है।

अपनी ओर से कितना प्रयत्न करती थी वह कि विशाल कोई परायापन अनुभव न करें। भले ही उनकी अपनी जीवन-दृष्टि थी, वे अपने संस्कारों से बंधे हुए थे, किन्तु उनके लिए उन्हें ऐसी हीन-भावना पालने की क्या आवश्यकता थी? मम्मी-पापा, उर्मिल और ललिता के साथ रहते हुए वे चौबीसों घंटे अपने परिवेश के निशानों को मिटाने के लिए तत्पर रहते थे और केंचुल उतारने के इस प्रयत्न में इतने हास्यास्पद बन जाते थे कि ललिता पानी-पानी हो जाती थी।

लगभग पांच वर्ष पहले विमल दीदी और जीजा जी दिल्ली से आ गए थे। जीजा जी का उच्च बौद्धिक स्तर और विद्वान् पापा! दोनों दर्शन-शास्त्र के किसी नुक्ते पर बहस में उलझ गए थे। विशाल बिना कुछ सोचे-समझे बहस में कूद पड़े। अपने ही हाथों अपना कच्चा-चिट्ठा खोल डाला। इतनी अप्रासंगिक बातें बीच में घुसेड़ दीं और फिर जीजा जी से उलझने के बाद नाराज़ होकर अपने घर लौट गए थे। यह और बात है कि कुछ ही दिनों बाद फिर आ उपस्थित हुए थे। ललिता को उन पर गुस्सा और तरस एक साथ आया था।

जीजा जी और विमल दीदी ने ललिता और विशाल को खाने पर बुलाया था। विशाल ने जाने से इन्कार कर दिया। शायद दिखाना चाहते थे कि उन्होंने अपनी अस्मिता अभी खो नहीं दी है। उन्हें परजीवी न समझ कर स्वतन्त्र अस्तित्व का स्वामी समझा जाना चाहिए। कितना सस्ता, कुण्ठित तरीका था अपनी अस्तित्व-रक्षा का! ललिता को यह सब बड़ा घिनौना लगा था। उसके यहां तो कोई इतना अशिष्ट नहीं था। फिर विशाल को यह क्या हो गया है? क्यों आधुनिकता और संस्कारशीलता के बीच की दूरी को पाटने का प्रयास करते हुए अपने व्यक्तित्व के साथ यों अन्याय कर रहे हैं? और ललिता, उनकी पत्नी, को उनसे जुड़ी हुई होने के कारण कितनी शर्मिन्दगी उठानी पड़ती है।

उनके बीच पहला झगड़ा कब हुआ था, यह तो अब याद नहीं आता, परन्तु कुछ वर्षों पहले की तू-तू-मैं-मैं एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश आज भी वह भूल नहीं पाई है। विशाल का टाइपराइटर ललिता के ही हाथों खराब हो गया था। उन्होंने जब देखा, एकदम ललिता पर बरस पड़े। वह चुपचाप सुनती रही, एक-दो बार कहा भी, "इतना परेशान होने की कोई ज़रूरत नहीं है। ज़रा सी मरम्मत से ठीक हो जायेगा।" विशाल और अधिक भड़क उठे थे, "मैं एक मामूली सा आदमी हूं और मेरे ऊपर अपने परिवार का सारा बोझ है। तुम्हारे पापा की तरह मैं कोई लखपति नहीं हूं। मुझे एक-एक पैसा सोच-समझ कर खर्च करना पड़ता है। हां, तुम्हारी बात और है। यू बिलांग टु दोज़ एरिस्टोक्रैट्स।"

ललिता को आग लग गई थी। क्यों बात-बात में उसे इस तरह अलगाव का अहसास कराया जाता है? विशाल जैसे भी थे, उसे स्वीकार थे, पर उनके मन से इस हीन-ग्रन्थि को कैसे निकाल दे? बिना कुछ सोचे-समझे वह गहनों का बक्सा खोल बैठी और सोने की चूड़ियां, बुन्दे, अंगूठियां, गले के हार उसी उत्तेजना में विशाल के आगे फेंक दिए थे, "ऐसा ही है तो यह सारा सोना बेच कर दूसरा टाइपराइटर और जो कुछ भी चाहो, खरीद लो। इतना याद रखो कि जूते खाने के लिए मैं तुम्हारी पत्नी नहीं बनी हूं। हां, यह सत्य तुम्हें स्वीकार करना होगा कि तुम्हारी मानसिकता दिन-पर-दिन रुग्ण होती जा रही है।"

उस समय विशाल के चेहरे पर जमी हुई पराजय की राख को देखकर उसे एक हिंसक सन्तोष मिला था। आज उसे लगता है, जिस तरह उसने विशाल की कमज़ोरियां उनके मुंह पर दे मारी थीं वे उसके लिए उसे आज तक क्षमा नहीं कर पाए हैं।

शायद अलग घर लेने से विशाल की खोई हुई आस्था, लुप्त हुआ आत्म-गौरव लौट आए; यह सोच कर वह मम्मी-पापा से अलग दूसरे मकान में रहने को तैयार हो गई थी। विशाल ने न कोई उत्साह दिखाया, न आपत्ति की। चुपचाप उसकी बात मान कर तीन कमरों के इस घर में आकर रहने लगे।

…तब से जीवन ऐसे ही चल रहा है। दोनों एक दुराव को जी रहे हैं, दो भिन्न इकाइयां बने हुए। ललिता को कई बार अनुभव होता है, इस घर में वह और विशाल नहीं रह रहे हैं, दो अलग-अलग संस्कृतियों के बीच शीत-युद्ध जी रहा है। ऐसे वातावरण में दोनों बच्चे भी कितने असहाय से हो गए हैं। ज़रा-ज़रा सी बात पर उनकी पिटाई होती है। बच्चे अनुशासन में तो क्या रहेंगे, दबे-घुटे से ज़रूर रहते हैं।

अब तो लगभग दो महीनों से विशाल की प्रैक्टिस बिल्कुल ठप्प हो चुकी है। मुश्किल से एकाध केस हाथ में आ जाता है। बस, मुकद्दमों की फाइलें उलटते-पलटते रहते हैं या धूल से अटी कानून की मोटी-मोटी किताबों में सिर दिए रहते हैं। इन महीनों में घर का पूरा खर्चा ललिता अपने वेतन से चलाती आ रही है और फिर समाज में ऊंचे जीवन-स्तर को बनाए रखने की ज़िम्मेदारी भी उसी की है। आखिर वह एक कॉलेज में प्राध्यापक है और उसके पति भी वकील हैं।

विशाल से इस बारे में बात करने का मन ही नहीं होता। शब्दहीनता हरेक बीतते दिन के साथ घनी होती चली जा रही है। उसने सुना था, शब्दों के अभाव में वर्णनातीत आनन्द, गहरी आत्मीयता की अनकही अनुभूति होती है, किन्तु यहां यह जड़ता, दो अजनबियों के बीच की बोझिल खामोशी का दूसरा नाम है।

रात के एकाकी अन्धेरे में विशाल उसे अपने करीब खींच लेते हैं। ललिता को लगता है, ये किसी सशक्त पुरुष की बाहें नहीं हैं, दूसरों पर निर्भर रहने वाले एक असफल आदमी का कमज़ोर सा पाश है। लाख चाहने पर भी इस भावना से मुक्त नहीं हो पाती, स्वयं को

समर्पित नहीं कर पाती। उसके इस ठंडेपन, रुखाई से विशाल न जाने क्या समझ लेते हैं। शिथिल, ठंडे हाथों से उसके जाने-पहचाने शरीर को टटोल कर अलग हो जाते हैं। दो बिस्तरों पर दो समान्तर रेखाएं निढाल पड़ जाती हैं।

पलंग पर लेटे-लेटे ही ललिता घड़ी देख लेती है। अभी तो केवल छः बज रहे हैं। बीच में उठ कर बच्चों के लिए नाश्ता बना दिया था और उन्हें खिला कर खुद भी थोड़ा सा खा लिया था। दोनों को थोड़ी देर तक पढ़ा कर फिर लेट गई थी। कुछ घंटों में विशाल भी आ जाएंगे। खाना तैयार हो तो इधर-उधर की कुछ बातें करते हुए खाते रहेंगे मानो किसी निहायत औपचारिक पार्टी में खाने के साथ-साथ बोलते हुए 'मैनर्स' को निभा रहे हों। उसके बाद···गहरी नींद में सोते हुए बच्चे, टेबल लैम्प की रोशनी में फाइलों या किताबों के पन्ने पलटते हुए विशाल, आंखों को बांह से ढके हुए बिस्तर में घुसी वह स्वयं और इस सबसे परे उसके मन पर अपनी तहें जमाता हुआ, सियाह अन्धेरे से टपकता हुआ सर्द सन्नाटा···।

———

● द्वारा श्री मक्खन लाल 'महव'
दैनिक 'खिदमत', श्रीनगर, कश्मीर

तुम और मैं

— देवरत्न शास्त्री

मेरा है अधिकार
श्वेत को काला कर दूं।
(क्योंकि) मौत श्वेतिमा, पर काला है कृष्ण कन्हाई।
इसीलिये तो मैं भी
कृष्ण हृदय से
सब कुछ काला करना चाहूँ,
महापुरुष के पदचिह्नों पर चलना चाहूं।
मेरा यह अधिकार बड़ा है—
बाहर से बहुमूल्य मंगाकर
धनकुबेर का भवन सजाना।
देव मूर्तियां, अनुपम कृतियां
बाहर जातीं,
भारत की उज्ज्वल संस्कृति का ध्वज फहरातीं।
मेरा तो अधिकार यही है—
बांधों, सड़कों औ' भवनों पर
पालिश कर दूं,
(नीवें चाहे थुलथुल, डगमग)
बेशक निर्धन भारतवासी
मजदूरी से वंचित न हों।
मेरे घर को नीवें बन जातीं फौलादी
इससे वे क्यों विचलित होंगे ?
मेरा तो अधिकार बस इतना
इस बच्चे को पालो, पोसो,
जन्म दिया है इसको मैंने
कितने ही कष्टों को सह कर।
मानोगे तुम
मेरी इच्छा
सबसे ऊपर।
सचमुच मैं हूँ तेरे जैसो

लेकिन बस में तुम्हीं उठोगे
सीट करोगे झटपट खाली।
खड़े रहे तो दुख भी क्या है ?
मैं जननी हूँ मातृशक्ति, पर
समय देखकर अबला भी हूँ।
मेरा है अधिकार
अधिक वेतन पाने का
पांव पसारे टेबल पर बस सो जाने का।
दर्जन भर हैं बच्चे मेरे।
जिन्हें चाहियें यह भी, वह भी
जिये जुटाने में हो जाता
थक कर चूर
और मजबूर
नित्य प्रति सो जाने को।
बन्धु, शक्ति पाऊं तो कैसे
फायल पर जो नोट लिखूं मैं ?
मुझको भी अधिकार मिला है
चोर कोठरी के कोने में
पीले दाने कुछ रखने का
उन्हें बदलने का सोने में।
कम होगी उससे भारत में
सोने की इतनी नायाबी।
कठिन यातना सहनी होगी
कुछ कीमत तो देनी होगी
चाहे हंस कर, चाहे रोकर।
अधिकार मुझे है केवल इतना—
इधर कभी तो उधर हो सकूं—
जिससे कुर्सी खुश हो जाए—
और वहीं पर स्थान
मुझे थोड़ा मिल जाए।
सेवा कर पाऊं जनता की
कभी न भूले उपकृति मेरी
जनता खून बहा भी देगी—
जिस से मेरी नस्लें
सुख से जी पायेंगी।

बस इतना अधिकार हमारा—
नहीं अधिक कुछ
उपयोग करेंगे
तब सोचेंगे—
कर्म करें क्या ?
कर्त्तव्य अभी तो तुम ही कर लो"।

"क्या कहते हो ?
बतलाओ, यह 'तुम' है कौन ?
'तुम' हो तुम,
शासन या जनता" ?

"पर यह 'तुम' तुम भी हो सकते"।
"नहीं, नहीं,
मैं केवल 'मैं' हूं।

वचन दिया है जिसको तूने
अधिकारों का वर पाने का।"

"तू यदि शासन
जन्म दिया है तुमको मैंने—
कर्म किया है भारी ऐसा !

तेरो बारी अब है आई
कर्त्तव्यों की,
तूने ही अब देनी होगी
अधिकारों की वर्षा अविरल।"

इस वर्षा के गहरे कीचड़ में
तुम कीडा बन रींगोगे—
भार बढ़ाओगे वसुधा का
शर्म करो कुछ !

कर्म करो, भूमि सरसाओ
महक उठे भारत की क्यारी।
कर्त्तव्यों की चुम्बक से खिच
अधिकारों का स्वर्ग रुपहला
तेरे चरणों की रज लेकर
शीश सजायेगा अपना नित।

———

कहानी

तृष्णा उत्पीड़न

— तपेन महाजन

गगनांचल का पूर्वी छोर अरुणिमा की नूतनता में उघड़ उठा है और धरती पर जैसे रात्रि भर छाई रही क्लांति की तंद्रा इस अंतिम पलांत पर, नवजागरण से विच्छिन होकर नवोल्लास, कोलाहल से मुखरित हो उठी है। प्रभात जैसे दुल्हिन बनी पायल के इस मुखरित रव से प्राणी की निद्रा झिझोड़ रही है। उसी अरुणिम आंचल धरती के छोर में, अभी ही प्रस्फुटित हुआ है अरुण - दहकता उज्ज्वलतम, ज्योति का उन्मेष, जो अज्ञान भटकन से युक्त अंधकार को एक ही क्षण में विदीर्ण कर उठा है।

सिद्धार्थ बैठे हैं। शांत निर्जन में यह कोलाहल-नवोल्लास चंचल शांति भर रहा है। सिद्धार्थ आज असीम शांत हैं। यह चंचल शांति उन्हें आनन्द विभोर कर रही है, मोह कृश दुर्बल हो उठा उनका जर्जर तन आज जैसे सहज ही, इसी विभात सा, अतुल-नवल स्फूर्ति सामर्थ्य पा उठा है। आज रोग से पीड़ित उस सुन्दरी का कांतिहीन, मृतप्राय सा चेहरा उनके मन को व्याकुल नहीं कर रहा है; वय के भार से झुके, झूले से, शिथिल वृद्ध तन की जरा, अपने यौवन को छटपटाती सी नहीं लग रही उन्हें; गलित शव को देख उस पल आर्त्त हो उठे उनके मन में अब भी वैसा सीत्कार नहीं भर रहा।

रोग का शोक, जरा की श्लथता, मृत्ति का रुदण—जो दिन-रात उन्हें व्यथित-भयभीत करते थे अब जैसे बंधनमुक्त कर गए हों, उन्होंने जैसे सभी को पराजित कर दिया हो।

अति शांत उनके मुख पर, अपूर्व-नव ज्ञानोन्मेष हुआ है। उस त्राण की दीप्ति एक आलोक सी है, जो उस अरुणिम ज्योति से पूर्णतया भिन्न है, दिव्य है। जैसे उस गगन के सूर्य से भिन्न, एक और सूर्य का उदय हुआ है और साथ ही एक नई प्रभात का अवतरण। उनके अभूतपूर्व अलौकिक मुख पर नवधर्म का रवि उदित हुआ है, जिससे, उनमें जागे अपूर्व-नव ज्ञानोन्मेष की अंशुमालाएं फूट रही हैं।

निर्जन में, उसी बोधिवृक्ष के नीचे वे बैठे हैं, जिसके तले कुछ पल पहले, उन्हें नूतन ज्ञान मिला था, नया बोध हुआ था। निर्जन में, दूर कहीं गूंजते वीणा के स्वप्निल स्वरों में से जैसे रोग, जरा, मृत्ति को जीतने का महामंत्र उनके कानों में सहज ही उतर आया था— तार इतने ढीले न रखो कि वीणा बजे न···इतना न कसो कि तार ही टूट जाएं। इस साधारण बोध में, अज्ञान-भटकन में विलीन उस रात्रि के अंतिम पहरांत पर, उन्हें एक महाज्ञान मिला, एक महाबोध हो उठा—मध्य मार्ग ! जीवन में न ही असीम तप, निरे उपवास···यातनाएं धारण करना ही सार्थक है, न ही विपुल भोग-विलास ; दोनों के बीच का जीवन बिताना ही सहज धर्म है।

उन्होंने जान लिया है विश्व दुःखों का घर है, क्लेशों का निवास है। यहां कोई भी प्राणी, दुःख रहित नहीं, प्रत्येक क्लेशों से पीड़ित है। उन्होंने जान लिया है जरा अजर है, मृत्ति शाश्वत है। दुःखों का मूल कारण तृष्णा है, बंधन हैं, मोह है ; तृष्णा के रहते प्राणी दुःखों से छूट नहीं सकता। तृष्णा का कड़ा-कठोर दमन ही नर को शांति प्रदान कर सकता है।

इस महाबोध से भासित उनके मुखमंडल पर एक कल्याणकारी मुस्कान आलोकित हो रही है। पूर्व का वह अरुणिम गगनांचल छोर अब विस्तृत हो रहा है, सुनहला···रूपहला सा होकर धरा की विस्तीर्णता पर पसर रहा है।

उनके प्रबुद्ध नेत्र रवि की इस मनोहारी छवि को जी भर निहार रहे हैं, रवि ज्योति की अथाह राशि भर-भर बिखेर रहा है—उनमें द्रुतगामी जलतरंग सा कोई भावोदय हो रहा है। प्राणीमात्र की पीड़ा उन्हें फिर विगलित कर गई है, उन नयनों में समाए करुणा के अगाध-गहरे शांत महासिंधु में अधीरता-आकुलता की उथल-पुथल मच गई है। उन्हें, प्राणियों को, रवि की भांति, इस ज्ञानोन्मेष इस महाबोध का बोध करवाना है, करुणा का संदेश देना है, इसे अपने तक ही सीमित नहीं रखना। उन्हें पीड़ित प्राणियों के आर्त्तनाद को शांत करना है, दुखों में झुलसते, उत्तप्त प्राणियों के उत्ताप में, निज में उतरी प्रभात की शीतलता-करुणा का संचार करना है।

इस भावना के उगते ही, एक क्षण की भी देरी किए बिना वे उठे हैं···रुक गए हैं, भीतर कोई चेतना ठहर गई लगती है। शांत, मुड़ कर उन्होंने, सम्मुख अचल अवाक् खड़े वृक्ष को निहारा है, पर्णों की छाजनी झिरियों में विहंसती सुनहली स्निग्ध स्मित, मंद सी बह गई उस क्षण समीर के हिंडोले पर हौले से झूल कर उन्हें आनंदित कर गई है। इसी वृक्ष के शांत-शीतल वातवरण के नीचे प्रबुद्धता उनमें अवतीर्ण हुई थी, कोई महाबोध उन्हें बुद्ध बना गया था। उस वृक्ष के प्रति वे श्रद्धा से भर उठे हैं, झुक कर उन्होंने उसे प्रणाम किया···बुदबुदाए हैं··· बोधि वृक्ष !

अब वे ठहरे नहीं, चल पड़े हैं।

महात्मा बुद्ध चलते-चलते फिर रुक गए हैं। ···हल्की-हल्की सी सिसकियां, धीमा सा आर्त्त रुदन—जैसे समस्त प्राणियों की पीड़ा पुंजीभूत होकर, उस निर्जन को मधुप सी गुंजार

से भरती, अभी-अभी खिली उस प्रभात की मंगलमयी वेला में, पसरी शांति को विछन्न सा कर रही है···पीड़ा का यह अविरल निःसरण कण-कण में पीड़ा व्याप्त कर रहा है । वह कोलाहल जैसे रुक-रुक रहा है, पीड़ा की परछाईं जैसे उस अरुणिम···रूपहली धूप के साथ सर्वत्र छाती जा रही है ।

बुद्ध की आंखों की करुणा छलछला रही है । उनके अंग-अंग में प्रबल संवेदना है । उनके मुखमंडल की वह प्रबुद्धता की दीप्ति और उज्ज्वल हो उठी है, उनका वह महाबोध प्रबल और पुष्ट जो हो रहा है—कण-कण पीड़ित है । इसी पीड़ा को उन्होंने अपनी उदात्त करुणा से स्निग्ध करना है, इन्हीं दुःखों को हरने का संकल्प ले अभी वे उठे हैं ।

करुणेश बुद्ध का मूर्तिवत् सदा शांत तन पीछे घूमा है, उनके विशाल नेत्रों से करुणा, रस-सिक्त निरविच्छिन्न झरने लगी है । कोई कोमलांगना विकल-बेसुध हो धरा पर पड़ी है, पीड़ा जैसे साकार नीचे बिछी है । औंधा मुख, लम्बे काले घन-मसृण केशों से अधलुका चोली में कसा धरती से सटता, सिसकियों के आरोह-अवरोह पर क्लांत-निढाल हो आया वक्ष ; वह निर्मम लोच सी खाई गोरी-चिट्टी कटि···सभी उस पीड़ा को और भी प्रगाढ़ कर रहे हैं । बुद्ध की करुणा विचलित हो रही है लेकिन उस करुणा में कुछ और भी सिहर रहा है···? वे स्वयं नहीं समझ पा रहे । उनकी दृष्टि ही क्या, उनकी करुणा ही क्या···उफ ! यह मन भी इस पल उस कोमल, लोचित कटि को छूने को हो रहा है, उनके करकमल उस वक्ष की थकान को अपने स्पर्श से हरने को हो रहे हैं···अधर कां-कांप··· ।

'दे···वी··· !' अधर, अपने को ही छू छू रहे हैं, यह संबोधन कितना निर्मम हो उठा है उनके लिए । सिदता-छिला मुख सौंदर्य, चोली से फूट कर बिछलता वक्ष, कंचन-कटि, मां··· नीचे उनकी दृष्टि नहीं जाती है । एक नवजात शिशु वहां लेटा है, इन सिसकियों से अनजान, अबोध ।

यह नया करुण संबोधन उस कोमलांगना के हृदय को छू गया है, उन सिसकियों में भी इस कांपते अस्पष्ट से स्वर को सुन लिया है उसने । धीरे-धीरे उसे चेतना का बोध हो रहा है, सिसकियां थम रही हैं···पुरुष स्वर ! उसके भीतर एक चौंकाहट सी हुई है, लाज से अधिक पीड़ा की पिघलन द्रवित हो आई है···मुख, धरा से सटता सा वक्ष धीरे-धीरे ऊपर उठ आया है ।

घन-केश-पाश में घिरे उस भीगे मुखमंडल पर जैसे पीड़ा का पारावार है, प्रखर वेदना अभिगृहीत मुख जिससे जैसे समस्त पीड़ाओं का उद्वेल हो रहा है । सौंदर्य की मुरझान··· विद्धता, पीड़ा को और भी व्यापक, मर्मांतक कर देती है ! ···उफ ! यह सौंदर्य इतना संतप्त क्यों है ? इतना क्लेशयुक्त···? उनकी करुणा बिलबिला रही है, लेकिन यह सिहरन···?···

देवी ने निज को संभाल लिया है, सजीव करुणा की चंदनी शीतलता ने उसके ताप को हरा है । उस फैली, बिखरी केशराशि को उसने सहेजा है, समेटा है । ···एकदम कोई उद्योत सी बुद्ध की आंखों के सामने चकाचौंध सी बिछ गई है—गोरा-चिट्टा मुख, अतल कंचनी सौंदर्य,

चेहरा···इस चेहरे से बुद्ध की आंखों के समक्ष कोई दूसरा चेहरा क्यों उभर रहा है···? परिचित चेहरा, विस्मृत चेहरा, जिसे उन्होंने दोनों हाथों में कई बार लिया है, कई बार चूमा है। समझ नहीं पा रहे अथवा जान कर भी उसका बोध मात्र भी नहीं करना चाहते···उनका वह महाबोध कांप रहा है, महाज्ञान घुल सा रहा है। विस्मृत, दमन-नियंत्रित वासनाएं, मोह करवट ले रहे हैं, उद्दंड हो रहे हैं—उपवास-व्रतों वाला जीवन, सुदीर्घ तप से उघड़ा जीवन, भोग-विलास स्वेच्छा से अभित्यक्त करने वाला जीवन, मोह-बंधन दलगत करने वाला जीवन, अतीत की उस वीतराग सिहरन से कांप रहा है···यह काम-प्रवाह सी सिहरन का सा आनन्द उनकी ज्ञानोदय की महोपलब्धि को छिन्न-भिन्न कर रहा है। दुःखों का मूल कारण तृष्णा है, वासना है—कैसा असत्ययुक्त, अनचाहा महाबोध है यह! वासना—वास्तविक अति चाहा आनन्द···दुःखों का मूल कारण!

लेकिन यह सिहरन स्थैर्य क्यों नहीं पा रही? उनकी आंखों के समक्ष फिर वही रोगयुक्त युवती, वही वृद्ध, गला शव क्रमशः आ-जा रहे हैं···रोग, जरा···मृत्ति उन्हें फिर भयभीत कर रहे हैं, अंतस में पीड़ाएं फिर क्यों कुलबुला रही हैं···वह महाबोध छिन गया, पुनः वे सिद्धार्थ हो गए! पुनः वे···

'देवी!' सुदृढ़, स्पष्ट स्वर, अब न वह मृत्ति का भय सता रहा है उन्हें, न वह मादक सिहरन। उस महाबोध की प्रबुद्धता फिर उनके चेहरे पर चमक रही है।

'भगवन्!' श्रद्धानत् वाणी में देवी के कंठ से फूटा है। उससे उठा नहीं जा रहा है। उसका अंग-अंग अशक्त है, अव्यव-अव्यव ढीला है।

'मैं पतिता हूं, भगवन्!'

'तुम पवित्र हो, देवी!'

देवी के तन में एक हिलोर सी आई है। तनिक देरी भर मुस्कान उसके अधरों पर रुद्ध हो आई है।

'मैं पीड़िता हूं।'

'जगती के समस्त प्राणी पीड़ित हैं, देवी।'

'मेरी पीड़ा प्रगाढ़ है, भगवन्।'

उनकी अभिजात प्रबुद्धता स्मितलीन हो उठी है।

'करुणा! तुम्हारी तृष्णा विराट है, तुम्हारी इच्छाएं उत्तुंग हैं।'

महात्मा का प्रवचन जटिल है, अस्पष्ट है लेकिन उनकी वाणी में दिव्य ओज है जो इस पीड़िता को छू रहा है।

'देव! यह अबोधा समझी नहीं।' वह पीड़िता अब उठ आई है।

'कंचना! जगती दुःखों का नीड़ है, समस्त प्राणी पीड़ित हैं। तृष्णा दुःखों की सृजक है, मोह पीड़ाओं का आधार है; प्राणीमात्र की पीड़ा उसे भड़काती है, संतप्त करती है··· उसे पतित करती है। प्राणी पतित नहीं, तृष्णा-पूर्ति हेतु किया कृत्य पतित हो सकता है···'

नत्, मौन हो देवी, श्रुतिप्रिय वाणी में प्रवाहित हो रही इस शब्द धारा को पी रही है ।

'तृष्णा दमन ही दुःखों का विदलन है···'

वह अविचल मौन कुछ समझ पा रहा है कुछ नहीं । लेकिन धीरे-धीरे वह झुक रही है, दोनों हाथों में उसने उस नवजात शिशु को ले लिया है । महात्मा के चरणों में शिशु को अर्पित कर वह श्रद्धा विनीत सामने स्थिर हो गई है ।

उन्होंने दृष्टि नीचे नहीं झुकाई है, देवी के ऊपर तिरती दृष्टि कहीं और कोई परम करुणा कर, बिखेर रही है ।

'क्या है, देवी ?'

'मेरी तृष्णा भगवन्, मेरा मोह ।'

कैसी विचित्र बात कह रहा है यह प्राणी । उन्होंने दृष्टि तनिक नीचे झुकाई है, शिशु पांव में पड़ा किलकारियां भर रहा है ।

'जीव का ऐसा निरादर !'

शिशु उन्होंने बाहों में ले लिया है, करुणाभरी आंखों से वे उसे निहारने लगे हैं । समय जैसे अतीत में सरक कर स्थिर हो आया है, कोई गोल-मटोल ऐसा ही चेहरा उनके नयनों के सामने घिर आया है । वह स्वेच्छा से विच्छिन्न किया मोह फिर जैसे बिफर उठा है, मन उस महाबोध को तार-तार करके इस तड़पते लोथ को हृदय से परिश्लेष कर लेने को हो आया है ।

'राहुल !' कांपते अधर फड़क कर रह गए हैं, आंखों में नीर सा गीलापन उभर आया है । फिर वही वृद्ध, वह गला शव···वह रोग पीड़िता···

'जाओ देवी, इस तृष्णा का पालन करो ।' कठिनाई से इतना कह पाए हैं बुद्ध । शिशु को उसे थमा कर, अपने हृदय में उठे उस मोह वेग को निर्ममता से कुचल वे आगे बढ़ गए हैं । वह हतप्रभ सी उन्हें देखती रह गई है ।

बुद्ध घूम कर अब प्राणियों के कष्टों का उपचार कर रहे हैं । धरा पर जैसे साक्षात करुणा का अवतरण हुआ है, एक नए धर्म का अभ्युदय हुआ है—अभिधर्म, करुणा का धर्म, अहिंसा का धर्म । उनकी करुण वाणी पीड़ा के रव को शांत कर रही है, उस वाणी द्वारा अनुगृहीत उनके कल्याणकारी प्रवचन जन-जन के हृदय के उद्भाव, उद्घोष बन मुखरित हो रहे हैं । जहां जाते हैं सहस्रों जनों की भीड़ उमड़ पड़ती है, उनके दर्शनों से ताप शीतल हो उठते हैं । सहस्रों जनों को प्रव्रज्या देकर संघ में सम्मिलित कर रहे हैं । कई मठों, विहारों का निर्माण हो रहा है जिनमें अनेक बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियां उनके द्वारा निर्दिष्ट साधना में लीन हैं ।

विश्व दुःखों का निवेशन है, प्राणी-प्राणी पीड़ित है । प्राणियों के दुःखों का मूल कारण तृष्णा है । जन तृष्णाओं में भटक रहे हैं, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए व्याकुल हैं और व्याकुलता ही उनका दुःख है । वासनाएं इसे पतित करती हैं, बुरे कर्मों के लिए उत्प्रेरित करती हैं । तृष्णा दमन कर निर्वाण प्राप्ति ही प्राणी का परम लक्ष्य है···

…उनके उपदेश दिशा-दिशा में गूंज रहे हैं। लेकिन यह तृष्णा…वासना चुपके से उनके हृदय में चली आती है, कोई मोह उन्हें सताता है…? रात्री में एकांत चुभता सा है। कोई नन्हा सा शिशु अपनी मधुर कलोल मुस्कान से उन्हें लुभाता है, जिसे छोड़े अब दीर्घ अवधि हो गई है। वे मधुर किलकारियां, अब भी उनके एकांत को गुंजारित करती हैं। वह गोरा-चिट्टा चपल तन उन्हें गुदगुदाता है, वह गदराई बाहें अपने तन से लिपटी लगती हैं उन्हें। वह वीतराग रात्रि अब भी तड़पाती है, जिसमें अंतिम बार, निद्रा लीन उस शांत, सौम्य, मंजुल मुख को चूम कर सर्वदा के लिए सिसकने के लिए छोड़ आए थे।

रमणियों के केश मुंडते देखकर उनके कोमल हृदय पर एक घाव सा होता है। भिक्षुणी बन कर निर्वाण लेने के लिए वे इतनी उतावली हैं? वासना का सुख तिरस्कृत कर, निर्वाण-पथ…साधना की शुष्कता अपनाने को वे इतनी आतुर हैं? क्यों?

बुद्ध स्वयं असहाय हैं। मृत्ति का रुदन उन्हें बुरी तरह विचलित करता है, बुढ़ापे की निश्चलता का आभास उनके भावों को काट डालता है, रोगों की पीड़ा का भय उन्हें त्रस्त करता है…वे निर्वाण पथ पर ही बढ़ते जाते हैं।

श्रोतागण कुछ अधिक नहीं, कुल बीस के लगभग। शुद्ध उच्चारण-युक्त शब्द-जाल से मंजी प्रांजल भाषा में उनका प्रवचन प्रवाहित हो रहा है। लेकिन यह दो आंखें कैसी हैं जो उन्हें चपल दृष्टि से अनिमेष निहार रही हैं, उनमें विचलित कर देने वाली चमक सी है। उनका प्रवचनांश उस सौंदर्य-उद्दीप्त मुख की मुस्कान-चुहलता को गांभीर्य क्यों नहीं दे रहा है। बुद्ध आज उखड़ क्यों रहे हैं, उनकी वाणी का प्रवाह रुद्ध क्यों हो रहा है? उस दृष्टि की पछाड़ खा शब्दबोध बीच-बीच में ही क्यों टूट जाता है? आज उनका मन स्थैर्य क्यों नहीं पा रहा है… अरे! वे प्रवचन से इतनी शीघ्र क्यों उठ रहे हैं, विस्मित श्रोतागण श्रद्धानत हो उठ खड़े हुए हैं।

कुटी में आ वे आसन पर बैठ गए हैं। बार-बार वे ध्यानावस्थित होने की चेष्टा कर रहे हैं लेकिन यह चेष्टा भंग हो रही है।

द्वार पर थाप पड़ी है। अनुमति पा एक रमणी भीतर आ गई है। संग एक बालक भी है, तीन-चार बरस का।

बुद्ध ने अस्थिर मन को संयत किया है। रमणी चुप खड़ी है…शायद किसी उत्सुकता… प्रतीक्षा को समेटे।

'आने का प्रयोजन कहो, देवी?'

वही सम्बोधन, वही करुणा से छलछलाई वाणी। देवी की आंखों की मुस्कान और चपल हो उठी है।

'आपकी धरोहर…सौंपने आई हूं भगवन्!'

बुद्ध के कानों में जैसे कोई माधुरी सी बरस उठी है, उनके नेत्र सहज ही उठ गए हैं— गोरे खिले मंजुल मुख पर, तन पर लिपटे लाल परिधान की आभा दहक रही है, खुले केशों में जैसे कोई घन-घटा उमड़ रही है।

'धरोहर···?' उनका माथा कुछ संकुचित हो उठा है।

'राहुल, देव !'

बुद्ध के भीतर जैसे कुछ टूट कर खड़ाक से गिरा है। अप्रतिभ से वे बुदबुदाए हैं— 'राहुल।' तीन-चार बरस का राहुल, प्रणाम की मुद्रा में खड़ा है।

'भगवन् !' बोधि वृक्ष के नीचे, उस सुनहली विभात में···इसे यही नाम दिया था।'

चपला के वेग से उनकी दृष्टि उठी, वही चेहरा जो रजनी के एकांत में आकर उनकी तृष्णा, मोहों को जगाता रहता है। यह रमणी···उनकी वाणी मादक उद्वेग से कांप उठी है— 'यशोधरा··· !'

रमणी चकित हो आई है, महात्मा अंतर्यामी हैं, नाम तक जानते हैं।

'मुझे प्रवज्या चाहिए, भगवन् !'

लेकिन वे उसके चेहरे में लीन हैं। उस चेहरे के पीछे उन्हें कोई भय कंपा रहा है— रोग, जरा···मृत्ति···मन की इस स्थिति को निरीह कठोरता से काट, वे कह रहे हैं—'तुम्हें प्रवज्या नहीं मिलेगी, देवी।'

देवी विचलित हो आई है।

'भगवन् ! इस पतिता के पातक अक्षम्य हैं क्या ?'

बुद्ध की वाणी, साधारण नर की सी, निरीहता से भर उठी है—'नहीं···यशोधरे ! तुम मेरी साकार तृष्णा के, मोह···वासना···' कहते-कहते वे बाहर चले गए हैं।

अप्रतिभ, विस्मित···विमूढ़ सी यशोधरा उन्हें जाते देखती रह गई है।

———————

● द्वारा असिस्टेंट इंजीनियर
ग्रिड स्टेशन सब-डिवीज़न नं० ४, उधमपुर (जम्मू-कश्मीर)

दो कविताएं

—डॉ० सोमनाथ कौल

प्रदर्शनी

तुमने मेरी छाती पर
कीलों के सम्बल से
एक हंसती इठलाती
मौज करती तस्वीर जो लटकाई।
प्रदर्शन हेतु।
मैं मुसकराहट का लेप करके
एक मोबॉयल प्रदर्शनी की तरह
दर्शकों का मनोरंजन करने
(या तुम्हारी जेब भारी करने के लिये।)
इसे
स्थान-स्थान पर ले घूमा-फिरा।
तब
मेरी कला-चातुरी देख
दर्शक 'तस्वीर' को ही देखते रहे!
शायद भूल गये
कि रंगीन तस्वीर का अस्तित्व
कील और डोरे के बूते पर ही
खड़ा होता है।
प्रदर्शनी के समापन समारोह पर
जब सुसज्जित तस्वीर
मेरे आका के चरणों में
समर्पित की गई
तब पृष्ठभूमि में
मेरे बदसूरत 'डिफेस्ड' सुराखों को
पूरने के लिये
(या मेरी छाती को बहलाने के लिये।)
मैं
तोला जाने लगा
ढेर-से हल्के खोटे नोटों से
या
मेरे विद्रोह करने पर
न मिटने वाले
पेंट और वारनिश से।

———

ध्वनि-प्रूफ टूटन

प्रत्येक टूटन को एक ध्वनि होती है
शोर होता है पर
हमारी टूटन
कुछ और है ।
अपने ही ध्वनि-प्रूफ कमरे में
हमारी ध्वनि टूटती है
टूट कर अनगिनत अणुओं में
छितरा कर न जाने
किस से टकराती है ।
सर फूटता - सा
हाथ रक्त-रंजित से हो जाते हैं ··
सम्भल कर जब
ये अणु अपने ही टेप में
पुनः कैद हो जाते हैं
अपनी चेतना को लॉक-आऊट करके
हम
जब आपके पास आते हैं,
आप झट कहते हैं—
'कैसे मिज़ाज हैं ?
आज 'मामूल' से चंगे दिखते हैं ।'

● हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यल,
श्रीनगर

कहानी

काके दी बरात

- क्षेमलता वखलू

रविवार की छुट्टी थी। जाने मन क्यों खोया-खोया सा, उकता रहा था। सर्दियों के कारण एक ही कमरे में, वह भी बुखारी के इर्द-गिर्द बैठे गप्पें हांकने के बगैर और कोई कार्य करने को मन नहीं मान रहा था। वैसे सर्दियों का भी अपना मज़ा है, पर जब यह कटने का नाम नहीं लेतीं, तो मज़ा किरकिरा जाता है। लोग इसे कोसने लगते हैं— 'हे भगवान्, हमने कौन से खोटे कर्म किये हैं, जो इतनी सज़ा ?' कोई कहता—"हमारी तो नियति ही बिगड़ गई है, जो प्रभु भी हमारे संग आंखमिचौनी खेल रहा है।" खैर जितने मुंह, उतनी बातें और इन्हीं बातों में रातें बीत जातीं। कभी आपबीती, तो कभी जगबीती। कभी उसकी ऐबत, तो कभी इसकी गेबत। यह समझ लीजिये एक खेल है, और इस खेल को खेलने के लिये सभी के मन लालायित रहते हैं। इसे खेलने के लिये हाथ, पैर चलाने की कोई आवश्यकता नहीं, बल्कि मस्तिष्क का पूर्ण स्वस्थ रहना ही काफी है। परन्तु साहब, यह न भूलिये कि मनोरंजन इसमें ऊंचे दर्जे का होता है। यहां तक कि कोई बातें सुनते-सुनते रो देता है, तो कोई हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाता है। यह भी सर्दियों की ही एक खूबी या करामात समझिये।

मैं इसी विचारधारा में खोई थी कि सरदार रंजीत सिंह अपनी पत्नी को लेकर इसी बुखारी वाले कमरे में आ घुसे। न जाने उन्हें देखकर मन क्यों प्रफुल्लित हो उठा। वह हृष्ट-पुष्ट, खुरदरी दाढ़ी वाले, एकदम हंसमुख, प्रभु पर भरोसा करने वाले—कम से कम उनकी बातों से ऐसा ही लगता था—और बात-बात में गुरु महाराज की कृपा का प्रदर्शन करने वाले थे। देखने में एकदम भोले, पर अपने धन्धे में घाघ, बातों से कभी विद्वान् लगते तो कभी अक्खड़ गंवार; कभी यूं भी लगा कि व्यवहार बुद्धि के वही खजांची हैं। इस प्रकार मिले-जुले स्वभाव वाले यह सरदार जी हमारे घरेलू मित्र हैं, हम से प्यार से पेश आते हैं। जगबीती के संग-संग आपबीती में अधिक स्वाद लेते और देते भी हैं। आते-आते ही उन्होंने नारा बुलन्द किया, "पैन जी, सतसिरयाकाल'।

—सतसिरयाकाल, भाई साहब ।

"मैंने जी, तोहाडे नाल बात नहीं सी करनी ?"

"ऐसी भी क्या नाराज़गी है, सरदार जी ?" इन्होंने पूछ लिया ।

"दसो जी ! बेटे दी शादी थी, कार्ड लेकर मैं खुद ग्राया, तां भी तुसी नहीं आये ? जब पैन-प्रा (बहिन, भाई) दा रिश्ता होया जी, तो निबाहना भी पैन्दा है ।" सरदार जी को पूरा विश्वास था कि उनको हिन्दी बोली पर पूरा काबू है और पंजाबी के कुछ शब्द मिला कर वे हिन्दी को सरल बनाने की दिशा में राष्ट्रहित का काम कर रहे हैं ।

"परन्तु भाई साहब, हम तो यहां थे ही नहीं । दिल्ली से लौट कर आप का कार्ड मिला ; और तब तक ग्रापकी बहू मायके लौट भी चुकी थी ।"

"मैं नई सी कैहन्दी, ओ ऐथे नहीं होनगे ।" —सरदार साहब की पत्नी का मुंह जैसे खिल उठा था । उसे लगा कि आज भी वह सही साबित हो गई है । यह तय हो गया कि सरदार जी की गाड़ी अब उसके बिना नहीं चल सकती···कभी नहीं । यूं तो वह दुबली सी, पतली सी, गोरे रंग की, सलवार कमीज़ पहने, प्रायः सिकुटी सी, शरमाई सी सकुचाई सी अपने पति के एकदम विपरीत लगती । जहां सरदार जी बहुत बातें करते, वहां यह बहुत कम बोलती ग्रौर जब बोलती तो एक ही वाक्य में गागर में सागर भर लेती । दोनों ग्रधेड़ आयु के होते हुये भी अपनी मासूमियत या भोलेपन को खो न बैठे थे ।

"ग्ररे थूक दीजिये नाराज़गी को, यह बताइये शादी तो धूमधाम से सम्पन्न हुई न ?"

"क्या बताऊं डॉक्टर साहब, आप और पैन जी बरात में होते तो उसमें चार चांद लग जाते । वैसे गुरु महाराज की कृपा से सब ठीक-ठाक, धूमधाम से हो गया ।"

"यह बताइये बहू कैसी है ? उसका स्वभाव कैसा है ?"

"बहू गुरु महाराज की कृपा से चंगी है जी । एम० ए० तक पढ़ी है । बहुत विद्वान् है जी । आगे भी कुछ ग्रौर पढ़ना चान्दी है । कैहन्दी है कोई चीज़ खोज निकालेगी । हम क्या जानें यह बातें, यह तो तोहाडी ही समझ विच आजानगियां ।"

"कैहन्दी सी, सोलवीं जमात भी पढ़ लेगी ।" सरदार जी की धर्मपत्नी को लगा कि शायद उसके पति से पूरी बात कही नहीं गयी या उसकी बातें हमारी समझ में आई नहीं होंगी, इस कारण सोलहवीं श्रेणी कहने से हमें समझने में सुविधा होगी ।

बातों बातों में एक और बात निकल ग्राई । बारात शिमला ले जायी गई थी । लड़की के घर वाले आधुनिक रंग में रंगे हुये थे । मेज़, कुर्सियां, छुरी-कांटा, नैपकिन, चम्मचों की भरमार, सुन्दर-सुन्दर फूलदानों में सजे हुये नैपकिन, यह सब उन्होंने पहली बार देखा था । इधर संगीत चल रहा था—वह भी आधुनिक, पश्चिमी ढंग का । ज़ॉज, वैसटर्न संगीत तथा डान्स से हाल गूंज रहा था । यह सब चकाचौंध देखकर सरदार साहब को अवश्य लगा कि वह इस सोसाइटी के लिये बने न थे । पर ऐन मौके पर हिम्मत हारना उन्होंने सीखा न था और फिर वह लड़के वाले थे, डर किस बात का था । उन्होंने मन में ठान लिया कि मुकाबला करना है तो डट कर, वह भी बहादुरी से ।

"तो जी, पैन जी, कोई मुन्डा, बड़ा तगड़ा, हाथ में कागज़-कलम लेकर हम से पूछने लगा—कहिये सरदार साहब, *Bed tea* किस वेले पहुंचाई जाये ?"

यूं लगा कि सरदार रंजीत सिंह *Bed tea* का नाम सुन कुछ चौंक से गये थे। पर उन्होंने तय किया था कि इन मामूली बातों से वह घबराने वाले न थे। झट बोले, "अरे बेटा, सब बरातियों से मशवरा कर लूंगा। क्या पता कौन किस वेले पीता है।"

इधर *Bed tea* पर मशवरा होने लगा। बारातियों में आपसी खुसर-फुसर होने लगी। एक ने कहा, "मेरे तो दादा जी भी नहीं जानते कि यह बला—*Bed tea*—क्या होती है ?"

"चुप्प कर पापे, कोई सुन लेगा तो क्या कहेगा ?"

-'कोई सुन लेगा तो क्या हुआ, हम बाराती हैं, कोई ऐरे-गैरे तो नहीं हैं। आज मौज नहीं उड़ाएंगे तो फिर कब ? क्या तेरी शादी में ?"

इतने में सरदार साहब अन्दर आये। सब के संग बात-चीत के उपरान्त तय किया गया कि *Bed tea* प्रातः के साढ़े पांच बजे मंगवाई जाये। क्योंकि *Bed tea* का मतलब यही है जो चाय बिस्तरे पर ही पी जाये।

यूं बेचारे बारातियों के लिए तो एक और समस्या खड़ी हो गई। सब लोग प्रातः के चार ही बजे जग गये। क्योंकि चाय बिना मुंह-हाथ धोये और कुल्ला आदि किये बगैर कौन पी सकता था। इस प्रकार सज-संवर कर तैयार बराती लोग *Bed tea* की प्रतीक्षा करने लगे। सच मानना पैन जी, खोदया पहाड़ तो निकलेया चूहा ?

"यही *Bed tea* खस्मानूं खानी होंदी है ? खाली चा दी प्याली।" एक ने कहा था।

"भई, मुझे पता होता तो मैं अपनी नींद इस सुसरी चाय के लिये बरबाद न करता।" दूसरे ने जम्भाई लेते हुए कहा।

"मेरे से तो यह पी ही नहीं जाती। खाली चाय मैं बीमारी में भी नहीं पी सकता।"

यूं बराती अपने ही मखौलों पर हंस रहे थे। किसी ने चाय को बेसन में उंढेल दिया, तो कोई चाय को इधर-उधर फेंक कर आ गया। हां तो अब बारातियों में एक और परेशानी शुरू हुई जी। सब लोग मुंह-हाथ धोकर तैयार थे। जाग कर, फिर से लेट जाना उन्हें कुछ जंचा नहीं और न कहीं यह बात सुनी ही थी। फिर नाशते में अभी तीन घंटे बाकी थे। क्यों न शिमले की घाटियों की सैर ही की जाये। सुहावना मौसम था, ठंडी ठंडी हवा चल रही थी। सबका विचार था कि इस सुहावने मौसम में घूमने से रात का खाना भी पच जायेगा, व्यायाम भी होगा और खूब भूख भी लग जायेगी। बाराती तो घूमने चले गये, पर सरदार साहब और उनकी पत्नी को होटल में सामान का पहरा देना पड़ा।

"जी पैन जी, अब ब्रेक-फास्ट यही जी, नाशते का टैम आया। मेरे सब बराती गायब। जब कुछ सूझा नहीं तो मैंने अपने काके, यही जी, दूल्हे को फड़ लेया। मैं कहेया—तूं ते अफसर बन गया, पर अकल नहीं आई। उनानूं दूर क्यों जान दित्ता। मगर काके का भी कसूर नहीं था जी। अपनी ही शादी पर उनको कैसे टोकता।"

"बारातियों को इकट्ठा करना मुश्किल हो गया होगा आपको ?" मैं चाहती न थी कि कहानी की डोर टूट जाये ।

"इक पासे दूल्हे को पेज दिया, दूसरे पासे मैं निकल गेया। लड़की वाले भी उतावले हो गये। नाशता तैयार था, खाने वाला कोई न था। खैर जी, गुरु महाराज की कृपा से सब-को ढूंढ निकाला, और सब सही सलामत लौट आये ।"

"खाने के लिये भी आपको मना कर देना चाहिये था, वरना आपका पूरा दिन उन्हें ढूंढने ही में बीत जाता ?" मैंने हंसते हुये कहा ।

"वाह, कहा क्यों नहीं जी मैंने उनको। पर आज के लौंडे किसकी सुनते हैं। बोले—'हम फौज में भरती नहीं हुये हैं। बारात में आये हैं।' वैसे देखा जाये तो वह सही ही कहते थे।" यहां मुझे लगा कि सरदार जी बोलते-बोलते ज़रा कुछ सोचने लगे हैं। अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुये वे फिर से बोले, "आजकल दा ज़माना जी बड़ा पैंड़ा आ गया। शर्म हया सब खत्म हो गयी। कुड़ियां मुंडेयां दे नाल नचदियां सी। साडा ज़माना बड़ा बदिया सी। थालियां परोसियां जान्दिया सी। पर अब, सामने रखो, जितना मर्जी, उतना खाओ। नतीजा यह होता है कि कोई पेट भर कर खाना नहीं खा पाता। और फिर कोई भूखा, भिखारी तो नहीं होता है ना जी।"

सरदार साहब की बातों से पता चलता था कि एक तरफ से वह बेहद प्रसन्न थे कि उनका सम्बंध आधुनिक ढंग के परिवार से हुआ है, या साहब लोगों से हुआ है। परन्तु न जाने मन के किस कोने में एक अनजान आशंका थी कि कहीं उनकी सादगी की खिल्ली न उड़ाई जाए।

नाशते की समस्या तो हल हो गई। अब समस्या थी लंच और रात के खाने की। सब बाराती सज-धज कर, चमकीले, भड़कीले कपड़े पहन कर, दुनियां भर का ज़ेवर पहन कर, संवर कर, खाने के लिये तैयार हो गये।

इधर खाने की बड़ी मेज़ खूब सजाई गई थी। फलों, फूलों, सलाद के कई तरीकों से मेज़ की शोभा बढ़ रही थी। छुरी, कांटों तथा चम्मचों को सजा कर रखा गया था। गिलासों में नैपकिनों को फूल जैसा बना कर सजाया गया था। प्लेटों, गिलासों और गोब्लटरसों की कतारों को देखकर बारातियों के होश उड़ गये। खाने को बहुत कुछ था। नाना प्रकार के पदार्थों से कमरा महक रहा था। बारातियों के मुंह में पानी आ रहा था। पर यह कमबख्त छुरी-कांटे किले की दीवार की भान्ति बारातियों और खाने के बीच में खड़े थे, और वह कुछ-कुछ झेंप रहे थे। सरदार साहब आगे बढ़ कर चम्मचों, प्लेटों को उठाते हुये बोले, "अरे तमाशा क्या देख रहे हो ? उठाओ प्लेटें, हो जाओ शुरू।" चम्मचों के हिलने की खनखनाहट से सब जैसे चौंक गये। आगे बढ़ कर धीरे-धीरे खाना शुरू हुआ। ...कइयों के हाथ से प्लेटें छूट गईं, कइयों के कांटे गिर गये। कइयों के हाथ से छुरियां सरक गईं।

"न जाने यह साहब लोग कैसे बड़ी आसानी से एक हाथ से प्लेट पकड़ कर, खड़े-खड़े खाना भी खा लेते हैं, कांटा भी चला लेते हैं, बातें भी करते हैं और फिरते-टुरते भी हैं।"

यह बात उनके लिये आश्चर्यजनक थी। यदि वह चाहते तो हाथ से भी खाना खा सकते थे। पर यहां बात इज्जत की थी, और वह अपनी नाक कटवाने के लिये कतई तैयार न थे। इधर एक व्यक्ति दूसरे के कान में बोला, "वह कद्दू देखा? देख तो उसके अन्दर से क्या निकल रहा है?"

"जिसकी खिड़की काटी है, जो मकान जैसा लगता है?"

बात-बात में सब बराती जान गये कि कद्दू के बीच में नाना रंग की सलाद भरी हुई है। कांटा अन्दर घुसाते ही वहां से सुन्दर तहों में रंगीले लच्छे निकल रहे थे। आश्चर्य! इस तरह का करिश्मा उन्होंने अपने जीवन में पहली बार देखा था। इस अनोखी वस्तु को देखकर समझ लीजिये सब खाना खाना ही भूल से गये। खाते भी कितना, चम्मचों, कांटों से तो दो-चार लुकमे ही खाये जाते और वह भी खड़े-खड़े।

खैर, बारात वहां से लौट चली। 'जान बची तो लाखों पाये।' लड़की वालों ने बहुत सारा खाना, मिठाई साथ दिया। सब बाराती रेल के डिब्बे में भूखे सियारों की भान्ति खाने पर टूट पड़े। आज तीन दिनों के उपरान्त उन्हें बिना झिझक खाना खाने को मिला, और वह भी पेट भर कर। कितने किस्से दुहराये गये, कितने चुटकुले बन गये। ठठ्ठा, मखौल, गाली-गलोच बातों-बातों में रात बीत गई। सारी रात किसी ने एक झपकी भी न ली। दिन निकल आया, जम्मू पहुंचने पर वह बसों में बैठ कर, श्रीनगर की ओर रवाना हो गये।

बहू को सब सम्बंधियों ने अपने-अपने घरों पर बुलाया। अपने ढग का खाना खिलाया, पर बहू आधुनिक ढंग में पली-बढ़ी हुई—कांटे, चम्मच से खाने वाली लड़की ठहरी। हाथ से खाना नहीं खा पाती, या उसे सलीका ही नहीं आता। यह बात ज़रा सरदार साहब को खटक रही थी।

"यह ठीक है कि वह पढ़ी-लिखी लड़की है। आधुनिक ढंग में पली है, पर है तो इसी देश की। मेम भी होती तो उसे भी हमारे तौर-तरीके सीखने पड़ते। आखिर हम ने भी तो अपनी बिरादरी में रहना है।" पति की यह बात पत्नी को खल गई, उसे लगा यहां चुगली शुरू हो गई है—बोली "तुसी ते ऐवें ही गल्लां करदे हो, सिख जावेगी आपे ही।"

मैंने सोचा, मुझे भी कुछ बोलना चाहिए और वह भी पत्नी के समर्थन में।

"भाभी जी ठीक ही कहती हैं। सीख जायेगी धीरे-धीरे। और फिर घर-घर के भिन्न-भिन्न ढंग होते हैं। रंग जायेगी आप ही के रंग में। केवल समय चाहिये।"

जाने मेरी इस बात में ऐसा क्या था कि वे दोनों गदगद हो गये थे। सरदार साहब के मुंह पर फिर से मुस्कान छा गई थी। उठते हुये बोले, "वाह गुरु जी की कृपा! वाह गुरु जी का खालसा।"

———

● आर० ई० सी० कैम्पस,
हजरतबल, श्रीनगर

कविता

वेदना

—किशोरी भाटिया

मेरे दिल में है वेदना
तो करुणा के गीत गाता हूँ
मेरे दिल में है चाह
तो मिलन के गीत गाता हूं
तुम क्या करोगी समझ कर
कि मैं क्या-क्या गाता हूं ?

मेरे गीतों में है उनकी पुकार
जिन्हें दर्द मेरा भाता है
मेरे गीतों में है उनकी आह
जिन्हें चाह मेरी भाती है।

बिखरी है पत्तियों पे शबनम
मैं समझा कि तारक रोये हैं
अरे ! नहीं ! यह तो नीले वितान ने
पुष्पों पे सुमन बोये हैं

तप रहा है युगों से दिनकर
मेरी ही व्यथा में जल कर
हैं गा रही कोकिल, सारिकाएं
कब से मौन रो-रो कर।

अबला के आंचल से है बहता दुग्ध
आंसू की लड़ियां बनकर
'इन्दु' के बिन्दु यह न जानें
कि क्यूं और क्या-क्या गाता हूँ
तुम क्या करोगी सुन कर
कि मैं किसे बुलाता हूँ ?

● प्रवक्ता, विधि विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

हास्य-व्यंग्य

सूक्ष्म साहित्य सभा

—प्रकाश प्रेमी

बात है एक साहित्यिक सभा की जहां पर कुछ बड़े स्थूल लोगों ने सूक्ष्म साहित्यिक रचनाएं पढ़ना थीं और इस नव प्रयोगवादी धारा के साहित्य की गतियों और विधियों अर्थात् दोनों पर आलोचना और अनालोचना करनी थी। पूरा सभाकक्ष नाना प्रकार के लोगों से खचा-खच भरा था। हर रंग के, (सिवाए लाल-पीले के - इससे पितर भी डरते हैं) हर नसल के, (सिवाय पुच्छ-विषाग्र-हीन चौपायों के), हर धर्म के, (सिवाय मानवता धर्मावलम्बियों के), सभी प्रकार के लघु-दीर्घ, पतले-मोटे, खरे-खोटे, बड़े-छोटे लोग एकत्रित हुए थे। प्रवेश द्वार के सामने ही दीवार पर बनी मॉडर्न-आर्ट की एक शाखा एब्स्ट्रैक्ट आर्ट अर्थात् सूक्ष्म कला की सूक्ष्म रंगों से आच्छादित एक कलाकृति थी, जिसे देखकर कम-अज़-कम मुझे तो अपनी बुद्धि पर रोना आ गया जिस पर न जाने कहां से आकर इतने पत्थर पड़ गए थे कि वह रंगों के इस सम्मिश्रण को समझ नहीं पा रही थी। मेरी जैसी अवस्था में कुछ लोग और भी थे जो अपने से पहले गर्दन हिलाने पर अपने आयत ललाट पर भृकुटिया डाले कम्बु-ग्रीवाओं को हिलाने के साथ "वाह भई, वाह, क्या कृति है" का जाप कर रहे थे। उन्हें देखकर बकौल एक मशहूर उर्दू शायर के, हमने भी गर्दन हिला डाली, इस शे'र को पढ़ते-पढ़ते—

ताज़ीमे मैकदा भी मुकद्दस है रिन्दियो
गो तिश्ना लब हो मगर झूमते रहो

खैर, सभा की कार्यवाही आरम्भ हुई जिसकी अध्यक्षता श्री अटपट लाल ने की। सभा-सचिव श्री 'बे-डौल' जी ने इन बुद्धि-विसर्जित नम्रता भरे शब्दों में सभा को सम्बोधित किया—

"श्रोता, दर्शक तथा पाठकादि सब गणों से सम्बन्ध रखने वाले जन-गणों! आज का युग सूक्ष्म-युग है अर्थात् सूक्ष्मता का हम में प्रवेश हो चुका है या हमारा सूक्ष्मता में; इन सभी तथ्यों पर अनुसन्धान आरम्भ हो गए हैं। किन्तु यह तो एक अलग विषय है। हमारा सम्बंध केवल सूक्ष्म-साहित्य की रचना से है और इसी सम्बंध में कविता और कहानी को इस

प्रयोगशाला में प्रयोगवादी साहित्य की कसौटी पर परखना है। हमें 'वादों' के झंझट में नहीं पड़ना है क्योंकि इन 'वादों' ने अपवाद से लेकर वितण्डावाद तक सबको जन्म दिया है। यही देखिये गान्धीवाद, मार्क्सवाद, माओवाद अर्थात् हर आदमी के नाम पर एक वाद और आपको सच बताऊं तो यह वादियां भी इन्हीं वादों से ही सम्भवतः बनी हैं। हां, तो यह हाल एक प्रयोगशाला है। यहां पर प्रयोग की पहली कड़ी के रूप में "श्री-श्रीमान् हज़रत सरदार विलियम राहुल जैन" की कविता होगी, (वैसे कवि महोदय के नाम से ही पता चल जाता था कि यह सज्जन प्रयोग की साक्षात् मूर्ति हैं) इसे आपने सोने से लेकर नमक तक की सभी कसौटियों पर कस कर अनुपम कृति सिद्ध करना है। तो लीजिये सुनिए कवि महोदय की अनुपम रचना।...

श्री जैन मंच पर आए और कहने लगे, "सज्जनो मेरी कविता का नाम है 'ऊट-पटांग', जो आपके समक्ष प्रस्तुत है। क्योंकि इस प्रकार के सम्मेलन में मेरा यह पहला पग है अतः क्षमा-याचना का मुझे पूर्ण अधिकार है। तो लीजिए प्रस्तुत हैं कविता पंक्तियां—

हमने पूर्व से पश्चिम को मिलाया है
मिलाया भी क्या, वह स्वयं मिलने आया है
बकरियों-भेड़ों के बीच चीते-भेड़िये पाला किये,
हंसी में रोना मिलाया—
जीवन-मरण का साथ बढ़ाया
कुछ अपनाया कुछ हटाया
और सामने कुछ भी न पाया
मंज़िल हमारे पैर हैं
या पैर हमारी मंज़िल,
बहुत 'सिर खपाया' पर समझ में कुछ भी न आया।
पैर तो पैर—
इस तरह
आकाश और धरती के बीच पुल बनकर
दोनों को मिलाया
काटे वनवास और महलों को सजाया
किसके लिये ?
आखिर तुम्हारे लिये ही—
और
हमने अपनाया
तुमने ठुकराया
यह भेद हमारी तरह

किसी और को भी

समझ न आया।

कवि महोदय बैठ गये और सभी उपस्थित गण समझने के लिये सिर पटकते हुए करतल ध्वनि करने लगे ; "एब्स्ट्रैक्ट आर्ट" चूंकि सूक्ष्म तन्तुओं से बने जाल के कारण देर से समझ में आता है या अधिक परिपक्व हो तो समझ में ही नहीं आता, अतः सभी कविता के एक-एक शब्द को जोर-शोर से देखते हुए किसी तबला-वादक की नाईं सिर को ढीला छोड़े, हिला-हिला कर प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे।

इसके बाद श्री ज्ञानानन्द 'ज्ञानहीन' जी की कहानी थी और शीर्षक था 'इधर-उधर की।' चूंकि कहानी शब्दों से घड़ी जाती है ; शब्दों में अर्थ होता है और अर्थ से अनर्थ होता है··· अतः यह कहानी भी अर्थ और अनर्थ के बीच झूलती इस प्रकार की एक उत्कृष्ट रचना है—

"कहानी इधर-उधर की है कि उधर की राजकुमारी का इधर के राजकुमार के साथ सम्बंध हो गया। वे दोनों अपनी झौंपड़ी के इधर-उधर बैठ काफी समय तक इधर-उधर की बातें करते थे और इस प्रकार उनके सम्बंध काफी गहरे हो गए। इतने गहरे कि वे दोनों उसमें डूब गए।

इनके घरों में शोक मनाने वालों का तांता लग जाता, सभी कहते "हाय ! बेचारे डूब गए—यूं तो डूबने को सारा संसार डूब रहा है मगर इनका समय नहीं था डूबने का। हम सब अब यही कामना करते हैं कि यदि वे पुनर्जीवित हो जाएं तो इतनी दीर्घायु लेकर आएं कि सारे जगत को डुबो कर डूबें।"

कहानी खत्म होने के बाद कहानी फिर आरम्भ हुई, लोगों की मनोकामना पूरी करने के लिये, राजे-रानियां खत्म हुये और गणतन्त्र में वे एम० एल० ए० ; एम० पी० और मिनिस्टरों के रूप में अवतरित हुए और भू-स्वामी के साथ-साथ सम्पूर्ण जगत के अर्थ-स्वामी और धन-कुबेर बन बैठे और आम-लोग अर्थ-हीन व्यवस्था के सार्थक दास बन गए।

यह नव-युग की नई पीढ़ी थी जो नए-साहित्य की भान्ति समझ न आने वाली वस्तु थी। उन दिनों यह धारणा हो गई थी कि यदि यही हाल रहा तो एक ऐसा दिन आएगा जब किसी सरकारी कर्मचारी का वेतन एक लाख होगा तो चाय के कप की कीमत सौ-सत्तर रुपये होगी और आखिर बगावत होगी और युग पलटेगा।"

कहानी सुनाने के काफी समय बाद हाल में करतल-ध्वनि के साथ-साथ "शोभनम्" और "अति सुन्दरम्" की आवाज़ें उभरने लगीं। अब इन दोनों कृतियों को लेकर पूरे 'एब्स्ट्रैक्ट आर्ट' के लेखन पर आलोचना और अनालोचना होनी थी जिसका आरम्भ श्री स्थूल-बुद्धिराज ने यूं किया, "साहित्य की अनेकता को एकता में देखना बहुत अनिवार्य है या दोनों में से एक भी अनिवार्य नहीं या दोनों अनिवार्य हैं। अर्थात् किसी ज्योतिषी की प्रश्नोत्तरी के समान कटोरा या अन्दर है या बाहिर या कोई ले गया या हो सकता है इनमें से एक भी बात न हो। ऐसी

ही बातें साहित्य में परखना अनिवार्य है और साहित्य लिखा जाए या नहीं किन्तु आलोचना हर अवस्था में अनिवार्य है, कविता गुणों से भरी है या अवगुणों से या दोनों में से कोई भी नहीं है, इस आधार पर इस कविता पर एक लघु सी शंका उभरी है। मेरे विचार में कवि-महोदय इस क्षेत्र में परिपक्वता नहीं ला पाए हैं फिर भी यह एक अच्छा प्रयास है। एक त्रुटि है अवश्य, कि बहुत से शब्द अनपा पूरा अर्थ रखते हैं और कहीं-कहीं वाक्यों की भी शृंखला बन गई है जो इस क्षेत्र में असह्य पीड़ा के समान ही कष्टदायक है। कविता के क्षेत्र में तो हमारा प्रयास यह होना चाहिये कि शब्दों के अर्थ इतने गूढ़ हों कि एक-एक वर्ण पूरा एक एक कविता संग्रह हो। यदि कुछ गलत कह दिया हो तो उसके लिये क्षमाप्रार्थी हूं।"

इसके प्रत्युत्तर के लिये कवि महोदय उठे और बोले, "यह बात मुझे पहले ही ज्ञात थी कि इस बात की कटु आलोचना सहनी ही होगी किन्तु फिर भी मुझे प्रसन्नता है कि समग्रतः मेरी रचना अच्छी है और काफी पुष्ट है। क्या यह मेरा सफल प्रयास नहीं कि अपने पहले 'वाद' से मैं शृङ्खला का रस्सा तुड़ा कर भागा हूं? आज मैं स्वतन्त्र हूं, मेरे शब्द स्वतन्त्र हैं। किसी भी शब्द को कोई रोक नहीं सकता। एक शब्द यदि एक डगर पर पड़ता है तो दूसरा दूसरी पर और स्वतन्त्र कविता के रूप यत्र तत्र स्वच्छन्द विचरते दिखाई देते हैं। किसी और सज्जन की कोई और शंका?

और एक तर्फ के बैक-बैंचर्ज़ ने कहा, "हज़ूर आपको शंका की दृष्टि से देखा ही किसने था? अब आप में शंका की गुंजायश ही कहां है? वैसे स्वास्थ्य लाभ के लिये पूर्ण विश्राम लीजिये।" कवि महोदय ने ठठ्ठा कर उत्तर दिया, "तो क्या हम पागल हैं? हज़ूर हम आप से अधिक ढीठ हैं। आपकी हूटिंग और दगे सब यहां बेकार हैं। आप अपनी आलोचना अपने पास रखिये। यह कविता आपके बस के बाहर का रोग है, इसे समझने के लिये इतनी समझ लग जाती है कि समझ का दीवालिया पिट जाता है। हैं आप इस तपस्या के लिये तत्पर?" और यह कहकर कि "हम पहले ही समझ चुके हैं कि पिट चुका है" बाहर चले गए।

इसके बाद कहानी की आलोचना का श्रीगणेश श्री मीत-शत्रु जी ने किया और कहा कि नई कहानी का मुझे पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार का ज्ञान है। इसी आधार पर मैं यह बात कहूंगा कि यदि श्री 'ज्ञानहीन' जी थोड़ी सी मेहनत करके स्वयं अपना आलोचक बनकर देखते तो यह और सुन्दर बन जाती।

'ज्ञानहीन' जी उठे और नम्र निवेदन किया कि "इस कहानी को लिखकर मैंने पांच-छः बार पढ़ा था। जब हर पैरा और हर विचार स्वतन्त्र देखा, गज़ल के शे'रों की भान्ति हर पैरा एक अलग कहानी लगा और बार-बार पढ़ कर जब मुझे स्वयं समझ न आई तभी आपके समक्ष इसे रखने का साहस हुआ। यहां कहीं भी आपको शंका है कि शब्दों और वाक्यों का तारतम्य बन गया है तो क्षमा कीजिये कुछ समय के लिये अपने आपको खड़ा करने के लिये इतना तो पथ्य के रूप में हमें ग्रहण करना ही होगा।"

हाल के मध्य से आवाज़ आई, "आखिर पट्ठा धर्म-वीर ही नहीं साहित्य वीर भी है पछाड़ दे गया।"

'ज्ञानहीन' जी फिर बोले, "और कोई शंका।" "और क्या शंका हो सकती है ! शंकित चित्त में ही शंकित बुद्धि का एक आविष्कार शंका भी है।" हाल में बैठे समर्थकों में से एक बोला।

अब बे-डौल जी उठे और कहने लगे, "उपस्थित सज्जनो और सज्जनियों, अब मैं सभापति श्री अटपट लाल जी से निवेदन करूंगा कि इस पर कुछ और प्रकाश डालें।" श्री अटपट लाल जी अपनी सोटी के सहारे कुर्सी से उठे और अटपटे शब्दों को तसलसुल (तारतम्य) की बेड़ियों से स्वतन्त्र करवाने के प्रथम प्रयास में प्रथम भाषण देने लगे —

"बच्चो और बच्चियो, सज्जनो और सज्जनियों, बजुर्गो और बजुर्गियो, हमारी इस शब्द-स्वतन्त्र-साहित्य की तहरीक का आगाज़ भी आज़ादी के बाद ही आरम्भ हुआ और हमारे मस्तिष्क ने सोचने की ज़हमत गवारा की कि हमें यदि आज़ादी मिली तो क्या शब्दों को आज़ादी नहीं मिलनी चाहिए और यह सोचकर ही हमने नव-प्रयास किया है।

आज के कवि या लेखक की गहराई कूत पाना आसान काम नहीं। आधुनिक लेखन गंवार अवाम के लिये नहीं केवल उन विद्वानों के लिये है जो बेचारे केवल सरकारी भत्तों तक आश्रित होने के कारण अपना पूरा समय इस साहित्य के अध्ययन की ओर लगा रहे हैं—क्योंकि उनके पास दो ही वस्तुएं हैं, एक सरकारी भत्ता और एक समय। अतः वे ही समय का सदुपयोग करके इस साहित्य को समझ सकते हैं। वैसे इस साहित्य को समझना इतना आसान नहीं, पूरी लोमश ऋषि की उमिर चाहिये।

यह साहित्य का गूढ़तम रूप है। आप कल्पना कर लें कि आप एक कविता लिख रहे हैं और कविता की पंक्ति है—कल छ···छलप, पनक घरड़, गदब, लमङ—तो यह पंक्ति अपने में ही एक पूरी लम्बी कविता है—एक खण्ड-काव्य है और इन वर्णों के जितने भी शब्द आपको शब्दकोश में मिलते हैं, आप जौनसा शब्द आपको चाहिये अपने हिसाब से लगा लीजिए और यह एक कविता बन गई। आप हैरान होंगे कि सो कैसे ? स्वयं सोचिये आप 'स रे ग म प ध नि सा' में पूरे जगत का संगीत साहित्य बन्द कर देते हैं तो क्या एक कविता संग्रह नहीं आ सकता ? प्रश्न यह है कि समझने में देर क्यों लगती है ? तो, हजरात स्वतन्त्र शब्दों को ढूंढने में देर तो लगती ही है। आप अपनी 'वोकैबलरी' बढ़ाइये और आपको देर की शिकायत बिल्कुल नहीं हो सकती। आप हैरान होंगे कि एक पागल हमारी कविता को शीघ्र समझ जाता है और उसका सिर्फ एक ही कारण है कि जिस प्रकार हम शब्दों को अलापते हैं उसी प्रकार वह भी अलापता है और चूंकि वह चुप नहीं होता अतः उसके द्वारा आविष्कृत शब्द उसे इस कविता को शीघ्र समझने में मदद देते हैं।

आधुनिक कविता की सबसे बड़ी खूबी यह है कि शब्द चिल्लाते हैं "हमें समझो"···मनुष्य चिल्लाते हैं "हमें समझाओ"। अब शब्दों की यह वीरता होनी चाहिए कि वे समझ में न आएं और समझने वालों में इतनी तहम्मुल-मज़ाजी चाहिए कि न समझ पाने पर भी बार-बार कर सिर पटकें। अंग्रेजों ने पूरे विश्व पर इसीलिए राज्य किया कि वे किसी की समझ में न आए

इसीलिये तो हम भी यह कहते हैं कि हमारा यह साहित्य भी समय की परवाह न करने वाली विभूतियों के लिये है।" और इस प्यार भरे गान्धीवादी अहिंसक अस्त्र के कारण बैंक-बैंचर्ज़ का दूसरा भाग निकलता दिखाई दिया। श्री अटपट लाल जी ने कहा कि हमारे एक-एक शब्द में क्रान्ति है किन्तु सबसे बड़ी समस्या यह है कि क्रान्ति हमें मूरख बना रही है और हम भी ईंट का जवाब पत्थर से दे रहे हैं।

इस प्रकार उन्होंने साहित्य की सभी विधाओं पर इतना प्रकाश-पुंज डाला जिससे श्रोता-गणों की आंखें चौंधियाने लगीं और वे सोने या बेहोश होने लगे, कह नहीं सकता। हां यह सच है कि मेरे बे-सुध होने से पहले अटपट लाल जी भाषण देते-देते बेसुध हो गए थे और हमें डगमगाते, थरथराते, सिटपिटाते अपने किराए के कमरे की तरफ कदम बढ़ाने का एक बार फिर अवसर मिल गया था।

● पाराशर आश्रम, रामनगर (ज० क०)

निवेदन

* प्रकाशित रचनाओं पर उपयुक्त पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।
* जम्मू–कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को शीराज़ा में वरीयता दी जाती है।
* रचनाएं कागज़ के एक ओर सुबाध्य अक्षरों में लिखकर अथवा टाईप करवा कर भेजें। कॉर्बन-कॉपी पर विचार नहीं किया जाता है अतः उसे अपने पास ही रखें तो बेहतर होगा।
* स्वीकृत अथवा विचाराधीन रचनाओं की सूचना यथासमय भेज दी जाती है। अस्वीकृत रचनाओं को लेकर किसी प्रकार का पत्राचार अपेक्षित नहीं है;
* 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अंतर्गत समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना आवश्यक है।

—सम्पादक

कहानी

मछलियां

—बन्सी लाल कुचरू

रहीमा ने खिड़की से झांका। रात की खामोशी में आज भी आकाश उदास लगा। चारों ओर का सफेद (धवल) वातावरण अंधेरे की गिरफ्त में सिसक रहा था। परन्तु रहीमा को सब भला लग रहा था। रात की उदासी और सफेद पशमीने सी चादर में लिपटी कुदरत का यों सिसकना! 'हां सही तो है,' उसका मन कहता। मौसम कितना ही गदा हो, उसके लिए अच्छा ही होता है। ग्राहक मजबूर होकर फंसे कैसे? और फिर, उसका मनमाना भाव। ग्राहक खरीदने को विवश हैं। बड़ा दिन जो है।

रहीमा उठा। कांगड़ी में नये कोयले डाले और समावार में कल शाम के बचे हुए कहवे को गर्माने के लिए जलते हुए अंगारे डाले। मुग्ली को देखा। गठरी सी गदराई हुई बिस्तर की गर्मी में दुबकी है। उसे जगाना मुनासिब न समझा। "हूं···रोक लेगी! अभी जाने न देगी वह। शाम को मुझे बुखार में तपता देखकर कितना घबराई थी। कड़कड़ाती सर्दी में जेहलम में अकड़ गया था सारा शरीर। इधर बायीं टांग में अजीब से मरोड़ आने लगे हैं अब। नज़ला भी खैर से है।" रहीमा ने सोचकर मुग्ली को फिर देखा, एक प्यारा सा गुस्सा भी आया।

"भला यह भी आराम का समय है। रहे ही कितने दिन। चार ही दिन तो हैं। ढेर सा स्टॉक बैठे रहने से मिलने वाला नहीं। कम से कम पचास-साठ किलो···बड़ा दिन जो है। आखिर लोग कुछ पाने की आशा में मेरे द्वार पर दस्तक देते हैं। वह बड़बड़ाता हुआ जाल के टूटे रस्सों को गांठने लगा। थोड़ी ही देर में वह तैयार था। सिर पर कन्टोपा रखना भी न भूला। साथ में गर्म-गर्म कांगड़ी भी ले ली। एक नहीं, दो प्याले कहवा पी कर शरीर में गर्मी सी आने लगी। हां, बुखार इस समय नहीं था।

धीरे से द्वार खोला। डर था कहीं मुग्ली के खरगोशी कान चौकन्ने न हो जाएं नहीं तो जाने न देगी। इस बायीं टांग के दर्द से वह कुछ चिंतित सी रहने लगी है अब। होता है

शीतकाल में। ऊपर से बर्फ और जेहलम की कंटीली पवन की तीखी चुभन। अब उसे कौन समझाए ? यह भ्रम न पाल। मेरे को कुछ होता-वोता नहीं। आते ही कहवे के गर्म गर्म एक दो प्याले पीकर एक टिक्की खायी नहीं कि दर्द हिरन। सोचता हुआ वह अपना सामान कंधे पर रखकर बाहर शमशान सी मौनता में डूब गया। हिम के सागर को घुटनों तक चीरता-फिसलता वह वितस्ता की ओर बढ़ने लगा और जैसे तैसे अपनी नौका पर पहुंच गया। इधर-उधर देखा, जेहलम के उस पार दो-चार नाविकों ने अपने अपने जाल वितस्ता के आंचल में बिखेर दिए थे। 'ऊंह' !! नाक-भौं की तिकोनी आकार से रहीमा का चेहरा सिकुड़ गया उनको देखकर, किन्तु दूसरे ही क्षण उसने अपनी नौका पुल की ओर बढ़ा दी। और ठीक बीच में पहुंच कर अपनी नौका से उठ कर जाल को खूब कस कर नदी की छाती पर फैंका। देखते ही देखते जाल जल की धारा के पेट में समाता चला गया। "सूं···सूं···" पल भर में ही उसकी नाक बहने लगी। जेहलम के समीरों में काफी शरारत थी। बहुत ही कंटीली और शीत भरी चुभन। थोड़ी ही देर में उसकें दोनों कान और नाक सुन्न से होने लगे, उसने अपना मुंह कांगड़ी की गर्मी में छुपाया ही था कि सहसा वह उछला, उसे जाल भारी सा लगा। रहीमा ने कांगड़ी को बाहर रखा और उठ कर जाल को ऊपर खींचने लगा।

"बिसमिल्लाह !!" उसकी दोनों आंखों में इन्द्रधनुष की सी रंगीन चमक लहराने लगी।

जाल को ऊपर लाते ही रहीम ने देखा कि इसमें लगभग पांच-पांच किलो की दो-चार बड़ी मछलियों के साथ कई छोटी मछलियां भी तड़प रही हैं। इसी हड़बड़ाहट में जब वह जाल खींच रहा था, उसकी कांगड़ी उलट गयी और नौका में लुढ़कने लगी। किन्तु रहीमा को इससे क्या ? उसने जल्दी-जल्दी जाल के रस्सों को खोला और क्षण भर में छोटी-बड़ी मछलियां तड़प-तड़प कर रहीमा को गुदगुदाने लगीं।

"हां···दीनू को ऐसी ही चाहिएं, एकदम मोटी।" रहीमा को इन बड़ी मछलियों को विलोकते, दीनानाथ की गिड़गिड़ाती आंखें याद आ गयीं, जब उसने कुछ दिन पूर्व कहा था कि ऐसी मछलियों पर उसके वेतन में दस रुपए और बढ़ेंगे। दीनू उसी के मोहल्ले में डाकबाबू का नौकर था। डाकबाबू की वृद्धा मां ने बड़े दिन के लिए ऐसी ही, हां ऐसी ही कश्मीरी दुधियाती मछलियों की फरमाइश की थी। शिवरात्रि पर उनके कुछ मेहमान आने वाले थे—उसे बैंक मैनेजर का चपरासी भी याद आया, उसे भी ठीक ऐसी ही चाहिएं और भी कई लोग याद आते गये।

"—सूं···सूं···" नाक बहते-बहते रहीमा को लगा जैसे उसके हाथ-पैर भी अकड़ते जा रहे हैं। वितस्ता की हिमानिल से, देखते-देखते नौका के थोड़े जल में मछलियां भी जमने लगीं, यहां तक कि नाक से बहता पानी भी जमता जा रहा था। उसने कांगड़ी की बुझी राख को टटोला। किन्तु बेचारी यतीम सी लग रही थी। "कमबख्त ! समय पर दगा दे गयी।" उसने बड़बड़ा कर घृणा से उसे ठोकर मार दी और उठ कर नौका पर जमा होती बर्फ को वितस्ता की धारा में प्रवाहित करने लगा। नौका भी धीरे-धीरे जल की धाराओं में बहने

लगी ; बर्फ हटा कर उसने अपने आप को चादर में लपेट लिया। भुजाओं को जांघों में फंसाया परन्तु शरीर की सुकड़ी रगों में गर्मी नहीं आई। इधर दांत भी, अब किटकिटाने लगे थे। "उफ ! इतनी सर्दी ! नहीं !! अभी से सर्दी का मुकाबला न किया तो पकड़ लीं मछलियां। यही तो मौसम है। लोगों से पेशगी भी ली है। उन्हें तो मज़ेदार मछलियां ही चाहिएं। साल भर इन्तज़ार करके ही यह बड़ा दिन आता है। आज नहीं, तो फिर कब !!" रहीमा ने थोड़ी देर अपनी हथेलियों को रगड़ा। जमे हुए नाक और कान को मसला…फिर, छप आ…कऽऽऽजाल जल के भीतर। "इंसपेक्टर पांच किलो की एक-दो मछली ले लेता तो कौन टोकता मुझे ?" उसने सोचा ज़रूर। किन्तु दूसरे ही क्षण उसका मुंह लटक गया।

"वह बड़ा सख्त है। किसी से लेता-वेता नहीं…हां उल्टा ही सवार। गोमेंट रेट पर बेचो। वाह !. भला ऐसी सुन्दर और मज़ेदार मछली, किलो तीन में बिके ? हां छोटी बिके तो बिके। लेकिन यह दस से कम न बिकेंगी। असामियां तो इन्हीं पर जान छिड़कती हैं।" अपने ही आप से बतियाता रहीमा वितस्ता की गहराइयों को कृतज्ञता से देखता पतवार चलाने लगा।

सहसा उसके बदन में झुरझुरी सी हुई। शीत समीर की असंख्य सूइयों ने हिला कर रख दिया उसको।

"काश ! कांगड़ी में आग होती।" उसने लाचारी के साथ कांगड़ी की ओर देखा। "हू, हू ! हा, हा !!" उसने फूंकना चाहा, "किन्तु यह कैसी अकड़न ! मेरा शरीर लकड़ी सा बनता जा रहा है, आऽऽह !! खुदाया रहम।"

वह चादर के ऊपर पड़ती बर्फ को झाड़ने के लिए उठा ही था कि धड़ाम…वह नीचे लुढ़क गया। उसे अपनी बायीं टांग बैठती सी महसूसने लगी। निर्जीव सा फिसफिसाने लगा था वह ! "यह मेरे बायें हाथ में कैसी मरोड़ ? लगता है भोर की शीतलहर मुझे मार डालेगी आज…क…कहीं ?" उसे कल बर्फ पर गिरा हुआ कुत्ता याद आया। बेचारा अपनी अगली टांगों से चलता था। उसकी पिछली दोनों टांगें लटक गयी थीं। "मुग्‌ली…" उसने पुकारना चाहा। परन्तु पुकार मन की दीवारों में ही टकराती रही।

"म…म…मैं क्यों आ…या य…हां…म…मुग्‌गली…तुमने मुझे आने ही क्यों दिया। म…मैं मरा जा रहा हूं…आह ! मेरी ज़बान बैठती क्यों जा रही है : क…क…कहीं…म…म…मैं ?"

किन्तु वहां उसके भीतर का क्रन्दन सुनने वाला कहीं कोई न था। उसकी भुजा जल में लटक गयी थी और नौका में फंसी मछलियां रहीमा के लिए करुणाविलीन थीं।

———

● रंगवार (बुशकरा), बारामुला (कश्मीर)

कविता

विडम्बना

—चन्द्रउदय शर्मा

मेरा मन जो कहता मुझ से,
मैं कैसे कह दूं दुनिया से;
सरल हृदय की भाषा को ही
यह जग समझ नहीं पाता।

पुष्प पांखुरो दिखी बिखरते,
बिखर-बिखर कर हर क्षण झरते,
प्रबल समय की आंधी थी, फिर,
मैं दुर्बल कैसे टिक पाता।

आदर्शों पर जो हो मरता,
मर-मर कर कैसे जी सकता,
इसीलिए इस जग में मुझको,
जीना बिल्कुल ही न भाता।

हृदय औ' घायल वक्ष-स्थल पे,
नमक बिखेरें यह जग वाले,
मन के गहरे घावों को मैं,
क्योंकर जग को दिखलाता।

मेरा मन जो कहता मुझसे,
मैं कैसे कह दूं दुनिया से;
सरल हृदय की भाषा को ही
यह जग समझ नहीं पाता।

———

● समृद्धि निवास, १४-बी/सी, गांधीनगर, जम्मू-१८०००४

कहानी

अमृत-मंथन

-- राज कुमार धर

युद्ध समाप्त हो गया। युद्ध के मैदान में लाशों का फर्श बिछा है—कोई आड़ा गिरा है तो कोई तिरछा, कोई औंधा, कोई सीधा—ऐसा लगता है जैसे किसी चित्रकार ने आधी रात को प्रेरणा से प्रेरित होकर अंधेरे में तूलिका चला कर एक 'एब्स्ट्रेक्ट' चित्र अधूरा छोड़ दिया है।

सबके सब सो रहे थे कितनी गहरी नींद है इनकी कि करवट भी नहीं लेते—इस तरह सो रहे हैं जैसे किसी तेज नशे में धुत हैं— इनके घरों में इनकी प्रतीक्षा हो रही है और ये लोग संसार से बेखबर इस मैदान में बेसुध पड़े हैं—कोई तो इन्हें जगाओ भाई,—नहीं! ठहरो कोई आ रहा है—अरे! यह तो लड़की है, जिसकी आंखें मूसलाधार बरस रही हैं। वह एक-एक लाश को उलट-पलट कर ध्यान से देख रही है और फिर मायूस होकर आगे बढ़ जाती है और अब एक लाश को सीने से चिपटा कर दहाड़ें मार-मार कर बिलखने लग गई है।

कितनी स्वार्थी है यह लड़की? औरों को तो बस उलटा-पलटा, इसे सीने से चिपटा लिया और रोने भी लगी! हां! यह सब क्यों न करे, वे सब तो पराये थे लेकिन यह··· इससे तो उसका खून का रिश्ता था। परन्तु क्या खून का रिश्ता होने से ही कोई अपना बन जाता है और किसी के बारे में 'पराया' शब्द व्यवहृत करने से क्या कोई यथार्थ में पराया हो जाता है? यह सब तो संसार के ढकोसले हैं। होने को तो खून के रिश्तों में भी परायापन आ जाता है और परायेपन में कभी-कभी खून के रिश्ते की झलक मिल जाती है—नहीं?

स्वार्थी तो समय है जो अपना मतलब निकाल कर आगे बढ़ जाता है और अपने हमसफर को पिछड़ने के लिए अधूरी यात्रा में ही धोखा देकर बिछुड़ने के लिए छोड़ जाता है। शायद उससे सहन नहीं होता कि कोई उसके साथ कदम बढ़ा कर उस गन्तव्य तक पहुंचे जो दोनों का गन्तव्य है।

अरे देखो तो कितने लोग आ रहे हैं—सब इन सो रहे व्यक्तियों को उलट-पलट रहे हैं और खास-खास व्यक्तियों से लिपट-लिपट कर रो रहे हैं—सबके सब स्वार्थी हैं।

मगर आखिर बात क्या है - ये लोग सोये हुए क्यों हैं—ऐसी भी क्या नींद कि इतना शोर होने के बावजूद कोई भी इनमें से जाग नहीं रहा है—आखिर बात क्या है ?

वास्तव में ये लोग मर चुके हैं—तभी तो इनके ओठों पर चुप लगी हुई है। अगर ये जीवित होते तो क्या ये तब अपना झूठा सोग मनाने पर विरोध नहीं करते ?

लेकिन ! इन्हें कोई जीवित क्यों नहीं करता ? क्या संजीवनी सूंघने का अधिकार केवल लक्ष्मण को था, इनको नहीं —क्या आवेहयात पीने का अधिकार ख्वाजा खिज़र को ही था, इनको नहीं ?

लक्ष्मण और ख्वाजा खिज़र ऐसी महान आत्माएं थीं जिनमें न तो कमजोरियां थीं और न दोष—वे मानवता की साकार प्रतिमा थे—और ये ! ये मानवता के हत्यारे हैं। ये मानव का खून पीकर, मानवता की हंसी उड़ा कर और मानव की मानवता का अवैध लाभ उठाकर उससे सब कुछ छीन लेते हैं और उन गुणों से मानवता को लाभ पहुंचाने के बजाए उन गुणों को व्यर्थ करके मानवता को दर-दर भीख मांगने पर बाधित करते हैं और उसे ठुकराये जाते देखकर एक क्षणिक खुशी प्राप्त करते हैं !

लेकिन संजीवनी है कहां ? आवेहयात कहां है ? इन्हें लाने वाले कहां हैं ? सब समय की करनी है जिसने हमारे खून में एक ऐसा अमर गुण भर दिया है जिसे हम नफरत से 'स्वार्थ' और प्यार से 'आत्मसुरक्षा' कहते हैं।

अगर इनको संजीवनी या आवेहयात का पता चल जाये तो सब अकेले-अकेले उसे प्राप्त कर जायेंगे और प्राप्त करने से पहले ही आपस में लड़ मरेंगे।

कितना बड़ा गुण दिया है समय ने हमें, इसमें इतना आकर्षण है कि छोड़ते ही नहीं बनता। बस आंखों को सामने लिए बैठे हैं—आंखों की पट्टी बनाकर जिसके पार हमें कुछ दिखायी नहीं देता…कुछ भी नहीं…।

———

● छत्तावल, मुगल मोहल्ला, श्रीनगर, कश्मीर

कविता

एक टुकड़ा धूप

—राजऋषि शर्मा

एक बूंद धूप की प्यास है—
मुझे नहीं
मेरी आंखों को नहीं—
मेरे मस्तिष्क को
जिसकी गति स्थिर है,
जो बन्धन में है।

जिसकी हर शाम में
सुबह की प्रतीक्षा है,
दोपहर की नहीं—
दोपहर को उसे नींद आती है
जब कोई चिन्ता नहीं
कोई शक्ति नहीं—
कोई उत्साह नहीं
प्यास अधूरी ही रहती है,
जिसमें—
रात के अस्तित्व को
मिटाने की ख्वाहिश हो
शाम का सहारा ले, जो
सुबह को दस्तक दे—
दोपहर को पाने का लक्ष्य
मौसम के हर तबादले में
जूझने की शक्ति
और, सफलता की चाह
मुझे प्रेरित कर सो जाए।

ऐसी धूप का एक टुकड़ा
मेरे मस्तिष्क को चाहिए
ताकि, ··· ताकि
मैं पागल होने से बच सकूं
मैं सारी आवाज़ें सुन सकूं
और, सब मेरी आवाज़ें ·· !

———

● राजकुटीर, नागबनी रोड, दुमाना (जम्मू)

कहानी

शिकवा

—उत्तम शर्मा

जी हां !! मैं एक कुआं था और कुआं ही हूं···पर—धरती और आकाश के बीच करोड़ों मील के आपसी फासले का अन्तर मेरी 'था' और 'है' की स्थिति में भी आ चुका है। कभी कम न होने वाला इतना बड़ा फासला होते हुए भी वे एक दूसरे पर बराबर नज़र जमाये हुए हैं—आकाश बेचारा धरती की ओर ऐसे झुका है जैसे उसे मिलने को अधीर हुआ जा रहा है, ठीक उसी प्रकार मैं अपने अतीत पर दृष्टि जमाये हर समय उसे तकता रहता हूं। क्षण भर के लिए उसका आंखों से ओझल हो जाना उसे सदा के लिए खो देना सा लगता है। मेरा अतीत मुझे सांत्वना भी देता है और सालता भी, जबकि मेरा वर्तमान केवल रुला-रुला कर, पल-पल व्यथित ही बनाता रहता है।

जब मैं उन बीते दिनों पर नज़र डालता हूं जब हवन-पूजन तथा यज्ञ आदि से मेरा मुहूर्त्त हुआ था और मैं "लच्छोशाह का कुआं" के नाम से पुकारा जाने लगा तो मुझे अपना आप इतना पूर्ण लगा कि सदा उस मधुर जीवन को जीने की कामनाएं करने लगा था।

हां, लच्छोशाह ! वह बड़ा जीवट किस्म का आदमी था···वही मेरा जन्मदाता था। वह गांव का मुखिया था किन्तु हमदर्द और परोपकारी था। लोगों का दुःख उसका अपना दुःख था और सुख-वैभव गांव वालों का था।

गांव के नर-नारियों, बहू-बेटियों का मेरी जगत पर हरदम मेला लगा रहता। लोगों के मुखों से मेरी प्रशंसा सुन-सुन कर लच्छोशाह खुशी और गर्व से फूला न समाता। अपने निर्मल जल से उनकी सेवा करते हुए मुझे भी अपने ऊपर गौरव हुआ जाता था, मैं अपने को उनका रक्षक समझने लगा था और अपनी आत्मा की अतल गहराई में उनके प्रति आदर भाव महसूस करता था।

मेरे जन्म से पहले गांव की बहू-बेटियों को पानी दो-तीन कोस की दूरी से लाना पड़ता था। दिन भर पानी ढोना ही, उनका सबसे बड़ा काम होता। पानी, ओह··· ! उन्हें कितनी कठिनाई से प्राप्त होता था !···

●

गांव में पानी की समस्या, जवान बहू-बेटियों का सुनसान रास्ते से गुज़रना और इतनी दूर से पानी लाने के लिए आना-जाना, मानवता से हट कर अमानुषिकता तथा पशुता की ओर बढ़ते समाज के कदमों की चर्चा करते हुए भविष्य में छिपी हर सम्भव संकटमय शंकाओं को व्यक्त करते हुए गांव के बुजुर्गों ने अनुरोध भरे स्वर में शाह जी से गांव में कुआं खुदवाने का प्रस्ताव रखते हुए कहा था—शाह जी, इन सब समस्याओं का हल, गांव का अपना निजी कुआं ही तो हो सकता है। लोगों की बातों पर गहन मनन करते हुए उन्होंने अपनी सहमति व्यक्त की और कुआं बनवाने का वचन दे दिया।

कुआं खुदवाने के स्थान का चुनाव करने के लिए इलाके का बहुचर्चित, प्रशंसित और बड़ा ही दक्ष कुआं विशेषज्ञ सूंघा' हर पहलू पर सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि डालते हुए अपने काम में इस तरह व्यस्त हो गया जैसे—फरवरी १९८० में ग्रहणग्रस्त सूर्य का निरीक्षण तथा अध्ययन करने हेतु संसार भर के वैज्ञानिक हैदराबाद में एकत्रित हुए थे।

कई एक स्थानों की दो हाथ भर की खुदाई की मिट्टी को सूंघ-सूघ कर आखिर मेरे स्थान का चुनाव करते हुए उसने बताया था—शाह जी; इस जगह पानी २५-३० हाथ की दूरी पर है पर नीचे पानी का बहुत बड़ा स्रोत है जिसका जल अति स्वादिष्ट, शुद्ध और स्वास्थ्य-वर्द्धक भी है।

कन्या-पूजन, गुड़-शक्कर आदि बांट, सूंघे की देख-रेख में खुदाई शुरू हो गई। पच्चीस हाथ की गहराई पर आये पानी को देख सूंघा मन ही मन अपनी सफल भविष्यवाणी पर फूला न समा रहा था। लच्छोशाह की खुशी का तो ठिकाना ही कहां था—बूढ़ी चाल में अचानक एक विशेष लचक और विद्युत समान फुरती आ गई थी।

मेरी गोलाकार चिनाई शुरू करने से पहले मेरे तल में नींव के रूप में ढाक की लड़की का एक चक्र बैठाया गया। चक्र के लिए प्रायः ढाक की लकड़ी को ही प्राथमिकता, महत्व तथा मान्यता दी जाती है। चक्र की विदाई—मन्त्रोच्चारण, नारियों के भजन-सुहाग, गीतों और ढोलों की ज़ोरदार डम-डम, डेईं-डेईं के बीच हुई थी।

चिनाई पूरी हो जाने पर नीचे से और खुदाई करके मेरी नींव को जल के गहरे स्रोत तक सूंघे ने बड़ी चतुरता से पहुंचाया था। फिर मेरी जगत बान्धते समय आमने-सामने पानी खींचने की लोहे की दो चरखियां लगा दी गईं—पानी देने के लिए अब मैं तैयार किया जा चुका था।

गांव की पंचायत, कीर्त्तन, रास-लीला और आई बरातों का अभिनन्दन सभी कुछ तो मेरे निकट के मैदान में होने लगा था। मैदान !! यह गन्दे पानी-कीचड़ का जौहड़ ही तो तब मैदान था।

उन दिनों, मैं बहुत ही प्रसन्न था; ऐसे भयंकर वर्तमान से भी मुझे गुज़रना पड़ेगा—मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था।

आज से कुछ वर्ष पूर्व जब लोगों ने मेरे जल को अपवित्र, और···मेरी जगत को अछूत मानकर मेरे पानी को त्याग फिर से दूर के गांव से पानी लाना शुरू कर दिया तो मेरे जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ हो गया—मेरी प्रभावित प्रशंसा का इन्द्रधनुषी जादू टूट गया और मेरे गुण-गान करने वालों ही के व्यंग्य-वाण अब मेरे लिए प्रति-दिन के भोजन जैसी बात हो गई । अपने जल से लोक-सेवा का मेरा अभिमान चकनाचूर होकर टूटे शीशे की भान्ति बिखरा पड़ा था—हर टुकड़े में मेरी लाचारी का प्रतिबिम्ब था, जिसे किसी ने नहीं देखा ; आह··· ! मेरा दुर्भाग्य !

मेरा जन्मदाता लच्छोशाह भी चल बसा था, खानदानी हकूमत की रीति से गांव का मुखिया अब उसका इकलौता विलासी पुत्र रामदास था—मदिरापान और वासनापूर्ति उसका मुख्य उद्देश्य था । मांस का टुकड़ा नज़र आते ही लार टपकाते किसी कुत्ते की तरह हसीन चेहरा दृष्टिगोचर होते ही उसके हृदय में वासना जाग उठती जिसका उन्माद उसकी सुर्ख आंखों में छलकने लगता—प्राप्त करने की क्रिया को साकार बनाने के लिए वह हाथ मसलने-मरोड़ने और छटपटाने लगता । उसकी चंडाल नीति तथा नीचता से लोग भलीभान्ति परिचित थे । लच्छोशाह की कृपाओं तथा परोपकारों का आदर भाव रखते हुए लोग रामदास को मुंह न लगाकर उससे कन्नी काट निकल जाने में ही अपनी भलाई समझते ।

गांव के अधिकांश लोग अपनी बहू-बेटियों को मेरी जगत पर भेजने के लिए अचकचाते । प्राय: वे आती भी तो टोलियों में । किन्तु रामदास की गीद्ध आंखें पीछा ही करतीं । धीरे-धीरे मेरा मान घटने लगा—रामदास राक्षस जो बन चुका था ।

पुनु चमार पास के किसी गांव का रहने वाला था और लच्छोशाह के यहां पशुओं को हांकता था । शाह जी ने उसे अलग से एक छोटा सा कच्चा मकान दिया था जहां अपनी बीवी और बेटी कमलो के साथ वह बस रहा था—कमलो उन दिनों अभी छोटी ही थी । वह भी कभी-कभी मां के साथ घड़ा लेकर मेरे पास आती थी और गांव की स्त्रियों के द्वारा अपना घड़ा भरवा लेती थी ।

कमलो दिन-दिन युवावस्था को प्राप्त हुई जा रही थी, उसके यौवन और रूप दोनों में दिन-ब-दिन निखार आ रहा था । मेरी जगत पर गांव की औरतें जगत के निकट खड़ी कमलो के रूप को निहार कर आपस में बतियातीं—

—मुई जात की तो चमार पर रूप की रानी है ।

—अपने गांव की कोई भी लड़की इतनी सुडौल-सुन्दर नहीं है ।

कुछ एक ईर्ष्या और जलन से कहतीं—यौवन और सौंदर्य का मेल न जाने कब क्या गुल खिलाये । फिर इन नीचों का चरित्र भी तो नीच होता है—कमलो के प्रति कसे व्यंग्य उन्हें अपनी हसदभरी जलन को कम करके, ठंडक पहुंचाने वाले फाहे से लगते । ···और कमलो···

वह अल्हड़ तो अल्हड़ ही थी जो अपनी ओर बार-बार उनकी उठती नज़र को अपने प्रति प्रशंसा समझ, आलोचना से बेखबर मुस्करा उठती।

—"हाय ! मुंहजली के दांत भी तो चमकते मोतियों से कम नहीं," किसी के मुंह से फूट पड़ता।

इतने में कमलो घड़ा उठाये चिड़िया की तरह फुदकती हुई मां के साथ चल देती।

कमलो, बहू-बेटियों की ज़बान का आम चर्चा बनी जा रही थी ; उनके संवादों में उसके प्रति जलन, व्यंग्य और हसद के सिवा कुछ भी न होता। यह सब सुनते-सुनते न जाने क्यों मेरा मन उदास होकर बैठने लगता—अज्ञात का सन्देह मुझे नोचे जा रहा था।



एक शाम को, हां दीवाली की सांझ थी वह, उसी बेला में जब सूर्य की चकाचौंध रोशनी और धूप से थकी-थकी सी दिन की आंखें विश्राम करने को रात के खुमार से पल-पल बन्द हुई जा रही थीं, कमलो पानी लेने अकेले आई थी। किसी को वहां आता-जाता न देख वह स्वयं ही मेरी जगत पर चढ़ बैठी—अछूत का अपनी जगत पर चढ़ना मुझे ज़रा भी नहीं अखरा था ; मेरी तो न कोई जात थी और न है, जाति-पाति तो इन सभ्य मानवों की उपज है और सदा इन्हीं लोगों तक सीमित रही है। कमलो को इस समय यहां कोई ऊंची जाति वाला न देख ले, मैं डरने लगा था। चरखी पर से एक हाथ हटा उसने भरे मटके को डाला ही था कि कहीं से आकर रामदास का एक हाथ उसके मुंह को दबोच बैठा और दूसरा उसके चहुं ओर फन फैलाये सांप की तरह लिपट गया। वह पहले ही से शायद उसका पीछा कर रहा था जिसका आभास तक भी कमलो को नहीं हो पाया था और अब किसी प्रेत की भान्ति झट प्रकट हो उस पर झपट पड़ा था।

घबराहट से मटका और चरखी दोनों हाथों से छूट गये थे—चरखी उल्टी घूम गई और भरा मटका मेरी दीवार के साथ टकरा कर फूट गया—घटनाएं अशुभ संकटमय पलों की ओर सकेत करने लगी थीं।

रामदास की पकड़ में जकड़ी कमलो बेसुध सी हुई जा रही थी, किसी अज्ञात भय से थरथराती, लाचार नज़रों से वह रामदास को घूरे जा रही थी।

कमलो..., तुम्हारी जवानी की खिलती-निखरती कली ने मेरे मन के बेचैन भ्रमर को न जाने कब से रस चुम्बन के लिये बेताब कर रखा है। अपनी जवानी को तुम स्वेच्छा से अर्पण कर दो, दो-चार प्यार-मुहब्बत की बातें करो—लो, मैं तुम्हारे मुंह पर से हाथ उठाता हूं। इस कुएं पर अब मेरा अधिकार है, केवल मेरा... ; तुम्हें गांव वालों से डरने की कोई जरूरत नहीं ; मेरी शक्ति के रहते वे तुम्हें कुछ नहीं कह सकेंगे।

कमलो के होंठ सूखते जा रहे थे, आवाज़ गले में ही फंस गई थी। शुष्क होंठों पर ज़ुबान फेरते हुए एक मरियल सी आवाज़ में कह उठी थी वह—शाह जी..., मुझ पर रहम करो, मैं

अपनी रक्षा की आप से भीख मांगती हूं…मुझे छोड़ दो…मुझे बख्श दो मैं आपके पांव पड़ती हूं। मैं किसी की अमानत हूं—वही आपका नया नौकर समभू—वह मेरा मंगेतर है।

—हा… ! हा… !! हा… !!! —तू जितनी खूबसूरत है उतनी ही भोली भी; भला ऐसा सुन्दर सुहावना समय हाथ से गंवाने की मूर्खता कौन करेगा? जवानी से लबालब भरे इस मटके के पानी से मेरी प्यास बुझाने के लिये अगर तुम स्वयं तैयार नहीं हो तो फिर मुझे ही जबरदस्ती करनी पड़ेगी। तुम्हारा तड़पना-रोना-चिल्लाना किसी के कानों तक पहुंचने का नहीं—समभू को तो खबर भी न होगी—फिर भी मैं तुम दोनों को मालामाल कर दूंगा- बस…, मेरी भूख मिटा दो। रहे लोग, वे तो आज दीवाली की रात को भूत-प्रेत और डायनों के भ्रमण की रात मानते हुए अन्धेरा होने से पहले ही अपने-अपने घरों में बन्द हो जाते हैं। वे बेवकूफ क्या जानें कि ऐसे समयों पर मेरे जैसे ही भूत तो तुम जैसी सुन्दर डायनों का अपहरण कर उन्हें ग्रहण करते हैं।

शक्ति और अधिकार रामदास जैसे लोगों को पागल बना देते हैं—नृशंसता उनके लिए एक वरदान बन जाती है। इसके बाद…नृशंसता का जो घिनौना खेल रामदास ने मेरी जगत पर खेला और जिसे मैं बेबस सा, सांस रोके देखता रहा…सब कुछ याद आते ही मेरी आत्मा जो स्वयं तो उसी समय भ्रष्ट हो गई थी, आज भी कांप उठती है और उस मासूम के लिए तड़प उठती है और…फिर…मुझे अपने आप से भी नफरत होने लगती है।

टूटी कली बेसुध बिखरी पड़ी थी। भंवरा रस पीने के उपरान्त उड़ चुका था। सुध आने पर कमलो ने अपनी अस्त-व्यस्त हालत को देखा-परखा—वह अपनी स्थिति को सहन नहीं कर पाई। लड़खड़ाते, टूटे कदमों से मेरे निकट आकर वह फूट-फूट कर रोने लगी थी। सिसकियों के बीच उसने कहा था —

—ऐ कुएं, मुझ पर बीती तबाही को तूने देखा है, तेरे सिवा किसी को खबर भी नहीं है। पर फिर भी इस कमीने के हाथों भ्रष्ट हुआ यह शरीर लेकर मैं नहीं जी सकूंगी। इससे उठती दुर्गन्ध पर पलते कीड़ों के मन पर रेंगते रहने से अपनी आत्मा और मस्तिष्क के संघर्ष में जीना-मरना, दोनों मेरे लिए कठिन होते जायेंगे—मरने-जीने का जो भी फैसला लेना है मुझे अभी; इसी समय करना होगा और…इसके साथ ही वह मुझ में समा गई थी।

धड़ाम्ऽऽऽ की ज़ोरदार आवाज़ गूंजी, फिर उसके बाद छोटी-छोटी तड़पें…और बस…।

अगली सुबह कमलो की आत्महत्या, लोगों की, विशेषतया औरतों की चर्चा का विषय बनी थी।

—कलमुंही किसी का पाप लिए स्वयं तो मर गई साथ में हमारा कुआं भी भ्रष्ट करती गई—मरी कमलो पर लांछनों की फूलमालाएं चढ़ाने में वे कोई कसर उठा न रखती थीं। हम सब के लिए यह कुआं अब दूषित हो गया है—उनका सामूहिक कथन था।

कुछ इने-गिने लोग मगरमच्छ के आंसू रोने, औपचारिक रूप से अफसोस जतलाने तथा सांत्वना देने पुनु के पास भी गये जबकि उनके मन केवल घृणा-भावों से भरे थे—कारण कमलो

की चरित्र-हीनता या आत्महत्या नहीं वरन् कुएं का भ्रष्ट हो जाना था, उस मासूम की जान गई उन्हें गम न था ; चिन्ता थी तो यही कि पानी की फिर से उनके लिए वही पुरानी समस्या खड़ी हो गई थी।

●

उसी शाम समभू मेरी जगत पर आया, घूर कर मुझे देखा था ; शायद मेरे जल के भीतर कमलो को ढूंढ रहा था—जिसे पुनु के साथियों ने उसके सामने ही तो अग्नि को समर्पित किया था।

मैं अवाक् था और समभू के गम में उदास बस टुकुर-टुकुर उसे देख रहा था। कैसे कहता कि तुम्हारी कमलो को उस पिशाच ने मेरी आंखों के सामने ही लूट लिया। बेचारा...! मैं उसे कुछ न कह सका था।

कितनी ही यादें उन दोनों की मेरी जगत पर अंकित थीं। कभी-कभी निश्छल प्रेम की बातें करके वे मुझे गुदगुदाते। परन्तु अब समभू निस दिन अपनी शून्य आंखों से घंटों मुझे व्यथित करता था।

एक दिन वह गुम-सुम सा मेरे जल में झांके जा रहा था। इतने में कहीं से खटका हुआ। रामदास के दो आदमी पास ही के किसी गांव की छोरी को उठा कर मेरे समीप से गुज़रे। समभू चौंका कि यह क्या हो रहा है। वह अभी लपकने ही को था कि रामदास की मनहूस परछाईं मेरी जगत पर टिकी। रामदास जो अभी तक कइयों के सतीत्व को भ्रष्ट कर चुका था—अभिमानी स्वर में दहाड़ा—क्या कर रहे हो यहां समभू...तुम्हारी कमलो अब यहां कहां, जाओ यहां से हट जाओ ! इतने में उसके दोनों साथी आ गये। उनके साथ वह छबीली भी थी; उसी की जात की लड़की।

—समभू जाओऽऽ, रामदास को उसकी उपस्थिति खलने लगी थी परन्तु समभू अब स्थिति को भांप गया था।

- मैं कहता हूं, नीच...चले जाओ यहां से—नहीं तो यह लड़की भी तुम्हारी कमलो की भान्ति... सहसा वह चुप हो गया। अपनी ही गलती से उसने समभू को कमलो पर बीते उ घृणित कार्य से अवगत कर दिया था।

आहत समभू ने आव देखा न ताव जगत पर टिके रामदास को न जाने किस अज्ञा शक्ति से नीचे ढकेल दिया कि नीच रामदास मुझ में समा गया।

लोगों के द्वारा पतित घोषित होकर भी मैं इस समय न जाने क्यों गर्व से फूल उठा मैं खुश था कि समभू ने शीघ्र ही अपनी कमलो के इस नृशंस पातकी को मुझ में गिरा क बदला ले लिया था। मैं स्वयं असहाय था ; जब कमलो मेरी आगोश में समाई थी परन्तु अब सन्तुष्ट था। समभू को शाबाशी देने के लिए मेरे भीतर का जल तरंगित हो ही रहा था कि सम की ओर, रामदास के दोनों साथी गुर्रा कर बढ़ने लगे, किन्तु समभू की आंखों में खून उबल र था। गरज कर बोला—खबरदार जो आगे बढ़े। मैं रामदास के साथ तुमको भी गांव में न कर दूंगा। खैरियत चाहते हो तो चुपचाप अपने मालिक का पोल खोल दो। शायद त

तुम्हें माफ कर दें। वैसे तुम्हारा मालिक अब रहा नहीं। उसे भूल जाओ। मैं स्वयं पोलीस के सामने इस पाप या पुण्य कर्म को स्वीकार करने में हिचकिचाऊंगा नहीं। मुझे खुशी है कि गांव वालों के द्वारा कमलो पर लगाये गये लांछन को मिटा सका—क्यों! रुक क्यों गये? क्या सोचने लगे? तुम्हारे यह उठे कदम रुक क्यों गये? नज़रें क्यों झुक गईं? लगता है, तुम मेरा साथ दोगे।

—हां, हां समभू भाई, हमें माफ कर दो, यह···यह···रामदास बहुत ही नीच आदमी था···।

मैं प्रसन्नता से और भी अधिक फूलने लगा कि समभू ने उन दोनों को आसानी से हमवार किया था—अब दुनिया कहे कि मैं पतित हूं परन्तु मुझे असीम आनन्द मिलने लगा था क्योंकि कमलो अब पवित्र हो गई थी। यह निश्चित था कि लोगों ने मुझ पर आना छोड़ दिया था।

समय ज्यों-ज्यों बीतता गया, लोगों से मैं और भी अधिक कटता गया। रामदास कई महीनों तक चर्चा का विषय बना रहा। समभू का क्या हुआ, मुझे मालूम नहीं···, परन्तु मालूम होता भी कैसे—लोग मेरे पास आते ही कब थे। जल के लिए लोगों का पड़ोसी गांव के कुएं पर जाना अब पहले की भान्ति दैनिक कर्म बन गया था। किन्तु मैं अपनी अपेक्षा सहन करता रहा। आखिर करता भी क्या···?

—रामदास का ज़माना गया। अब समय ने एक और करवट बदली थी। लोगों में न जाने कहां से नया उत्साह जागा कि मुझे फिर से काम में लाने की तैयारियों में जुट गये। यह एक नई प्रभात की शुरुआत थी। बात ही कुछ ऐसी थी, चुनाव की खबरें मैं अपनी जगत पर एकत्र हो रही भीड़ से सुन रहा था।

इलेक्शन का दौर आया, उम्मीदवार वोटों की भीख मांगने गांव-गांव पहुंचने लगे थे। गांव के प्रगतिशील नौजवान छुआछूत के कीचड़ से निकल, मेरी टूटी-फूटी जगत की ओर ध्यान दिलाते हुए उम्मीदवार से कह रहे थे—

—सरकार ने, सुना है गांव को नलके देने का निश्चय किया है, कब देगी कुछ नहीं कहा जा सकता। माना जल्दी ही दे भी दे फिर भी हम चाहते हैं कि—यह कुआं, जो कभी गांव की शान था, इसकी मरम्मत-सफाई करा दी जाये ताकि इसका पानी फिर से प्रयोग में लाया जा सके—बातें चूंकि मुझी को लेकर हो रही थीं अतः फिर से ज़िन्दा हो जाने के एहसास से मैं खुश हो रहा था।

—परन्तु, लोगों की मांग को पूरा करने का वचन, वचन तक ही सीमित रहा और··· मैं आज भी वैसा ही हूं जैसा पहले था।

———

● द्वारा पृथ्वीनाथ काकरू
जट्टी रोड, ख्वाजा बाग, बारामूला-१९३१०३

कहानी

बेबस

—शबीर अयाज

वार्ड में प्रवेश करते ही उसे एक अजीब प्रकार की अनुभूति हुई—बिस्तरों पर सिसकते हुए रोगियों को देखकर उसके अन्दर यह अनुभूति और भी घनी हो गयी। वार्ड की सफेद दीवारों पर कहीं-कहीं खरोंचें लगी थीं। बाहर की गर्मी के मुकाबले वार्ड में थोड़ी ठंडक थी। सब रोगी एक जैसे कपड़े पहने हुए थे।

"अपने कपड़े बदल कर ये कपड़े पहन लीजिए।" मेडिकल असिस्टेंट ने अंग्रेज़ी में कहा, जो केरल का वासी था। यह सुनकर अशोक हक्का-बक्का रह गया क्योंकि वह थोड़ी देर के लिए भूल चुका था कि वह भी एक रोगी है—वह अजीब नज़रों से मेडिकल असिस्टेंट की तरफ देखने लगा जैसे पूछ रहा हो, "क्या मैं भी बीमार हूं?" परन्तु फिर किसी विरोध के बगैर उसने कपड़े बदल डाले। अब उसे स्वयं के रोगी होने की अनुभूति हुई, नहीं, विश्वास हो गया।

"घबराने की आवश्यकता नहीं, अगर किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो कह देना—अच्छा, तो मैं जा रहा हूं!"

माइकल के जाने के बाद अशोक थोड़ी देर तक चुप रहा। चारपाई पर लेटने से पहले उसने अपने उतारे हुए कपड़ों की जेबें टटोलीं जिन में से चार रुपये चालीस पैसे, गोल्डन सिग्रेट की एक डिबिया और एक माचिस के अतिरिक्त कुछ नहीं निकला।

उसका सारा शरीर ताप से जल रहा था। वह अपने घर से हजारों मील दूर इस जगह अकेला था। यह जगह उसके लिए बिल्कुल नयी थी।···



···"देखो हम तुम्हें इतने आदमियों में से चुन कर बम्बई ट्रेनिंग के लिए भेज रहे हैं। अब ज़रा अपनी और हमारी नाक का ख्याल रखना", इन्चार्ज ने मुस्कुरा कर भारी आवाज़ में कहा था।

"सर, मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मैं अपने राज्य के नाम को रौशन करने का भरसक प्रयत्न करूंगा।" अशोक ने भी पूरे विश्वास से कहा था।

"वहां से वापस आने के बाद तुम्हें अच्छी नौकरी मिलेगी ना", मां ने पूछा था। "और फिर क्या ये सारे गम के बादल छट जायेंगे, तुम्हारे बूढ़े बाप को लाला की मुंशीगीरी से छुटकारा मिल जायेगा और वे आराम से बैठ कर हुक्का पी सकेंगे ?"

"अशोक तुम्हारे लौटने के पश्चात मेरी कई आशायें पूरी हो जायेंगी, मैं जीवन भर तुम्हारा ख्याल रखूंगी," यह कह कर आशा की आंखों से आंसू छलक पड़े थे।

"मैं तुम्हें निराश नहीं करूंगा, आशा ! मुझे खुशी-खुशी विदा दो।" प्रत्यक्ष में वह मुस्कुरा रहा था परन्तु उसका हृदय रो रहा था।..."

...वह चौंक पड़ा, किसी ने उसके कंधे पर हाथ रख दिया था। यह माइकल था जो उसके उतारे हुए कपड़े क्लॉक रूम में रखने के लिए आया था।

वह उन लोगों में से था जो अपनी बेकसी पर हंसते हैं। जाने क्यों आज उसे अपनी बेबसी पर रोना आ रहा था। "मां ! मगर इस समय कौन है जो मेरे जलते हुए माथे पर स्नेह भरा हाथ रख दे ?" उसने आंखें उठाईं और उसे सफेद एप्रन् पहने हुए एक धुंधली सी आकृति नज़र आयी।

"कैसी तबीयत है ?" यह डॉक्टर की आवाज़ थी।

"ठीक ही है।" अशोक ने धीमे स्वर में उत्तर दिया।

थर्मामीटर देखकर डॉक्टर ने कहा, "एक सौ तीन डिग्री ! तुम ठीक हो जाओगे।"

"कब ?" इस शब्द में बेबसी स्पष्ट रूप से झलक रही थी।

"जल्दी। —क्या बात है, तुम डर रहे हो ?" अशोक कोई उत्तर नहीं दे सका।

एक हफ्ते तक थर्मामीटर के पारे में बिल्कुल भी हरकत नहीं हुई। तब डॉक्टरों ने उसकी 'बाई-ऑप्सी' की और टैस्ट करने के पश्चात उसका पूर्ण रूप से उपचार किया और उसके ठीक हो जाने पर घर वापस चले जाने का परामर्श दिया। परन्तु वह कैसे वापस जा सकता था। उसके अपनों की कई आशाएं उससे सम्बद्ध थीं। वह नहीं चाहता था कि उसका बूढ़ा बाप कोल्हू के बैल की तरह कोल्हू से बंधा हुआ ही मर जाये। डॉक्टरों के लाख कहने पर भी वह घर वापस न गया और चलने-फिरने के लायक हो जाने पर अपनी टीम के साथ मिलकर अपने अभियान पर चला गया। खुदा-खुदा करके ट्रेनिंग समाप्त हुई और उसे नौकरी और एक बड़ी फ्रेम की हुई सर्टिफिकेट मिल गयी। ...गाड़ी चीख रही थी और वह कैंसर का रोग छाती में समाए घर लौट रहा था।

"अब किसी की कमर नहीं टूटेगी। आशा के लिए कुछ न रहेगा, इसका मुझे दुःख है। मेरे घर वालों को मेरे बाद मेरी आधी तनख्वाह मिलती रहेगी—पांच सौ रुपये।" और दर्द के मारे एक चीख उसके फेफड़ों को चीरती हुई आकाश में गुम हो गई थी।

———

● छत्ताबल, मुगल मोहल्ला, श्रीनगर, कश्मीर–१९००१०

कविता

क्या नाम दूं इसे

—सरला कुमारी 'सरोज'

आज मेरे मन मन्दिर में
न जाने क्यों धड़कन सी उमड़ आई।
निशा के घने अंधकार में,
भयानक क्यारियों में,
हरी भरी धरा पर,
घने घने वृक्षों में,
काले वस्त्र पहने हुए
सहसा एक व्यक्ति को देखा,
जाना सा अनजाना सा,
भोला सा,
कोई होगा
अकस्मात् आवाज़ आई—
मैं खिड़की से बाहर निकली
एक मुसाफिर फटे बस्त्र पहने हुए
कांपता हुआ, थरथराता हुआ,
लाठी हाथ में लिये हुए
अपनी आंखों के तारे को गोद में समेटे
नयनों से अश्रुधारा बहाता हुआ
निराश-हताश
"मेरे लाल की, मेरे बेटे की
'रक्षा करो', 'रक्षा करो' "
चिल्ला रहा था।
परन्तु उस बेबस की आवाज़
कौन सुनता,
वह रोता, वह चिल्लाता,
अपनी मैली-कुचैली चादर को
बार-बार देखता,
अपने अरमानों को वापिस लेता हुआ,
मेरे नयनों से ओझल हो गया।
मैंने सोचा किसी साथी से
करूंगी इसका ज़िक्र
किन्तु मैं भूली तुरन्त
और जब याद आया
देर गये
तो सोचा कि—
आखिर अब क्या नाम दूं इसे ?

——

● गणपतियार, श्रीनगर (कश्मीर)

कहानी

अपनी अपनी टूटन

—शक्ति शर्मा

बिट्टी चली गई थी। लगा था, जैसे अपने साथ सब सुख समेट कर ले गई हो। एक भ्रम है जो सदैव मुझे घेरे रहता है कि वह यहीं कहीं है। किन्तु भ्रम का अपना अलग अस्तित्व होता है, यथार्थ से दूर, कहीं बहुत दूर किसी छलावे में लिपटा हुआ सा !

दो दिन पहले ही उदासी ने घेर लिया था—जब मौसी ने बताया था कि बिट्टी को बुला भेजा है—उसकी मम्मी ने। और इन दो दिनों में वह आयी भी नहीं थी ; हालांकि वह सुबह-शाम दोनों समय चक्कर लगाया करती थी। मन काफी बोझिल-सा हो गया था। प्रतीक्षा थी जो ग्रंत तक बनी रही थी कि वह आयेगी और वह आयी भी, किन्तु जाने से पहली शाम। तब झुटपुटा छा चुका था ग्रौर नीचे जब वह पहाड़ी चढ़ रही थी तो मैंने खिड़की में से उसे देख लिया था। दो दिनों की प्रतीक्षा एकदम किसी ग्रज्ञात भय में बदल गयी थी। सही मायनों में वह भय भी नहीं था। जो था, स्पन्दनों के गिरने उठने के बीच कंपकंपाहट सा जुड़ गया था। ऐसा पहले तो कभी मैंने महसूस नहीं किया।

दरवाजे से भीतर मेरी चारपाई तक आते हुए उसके बोझिल कदम ग्रपरिचित लगने लगे थे। मेरे पास बैठ गई थी वह, लगभग सट कर। कमरे में चुप्पी हम पर हावी थी। वह कैसा क्षण था जब मैं बहुत कुछ कहना चाहता था किन्तु कह नहीं पा रहा था।

—मैं जा रही हूं, सुबह की गाड़ी से, तुम्हें पता तो चल ही गया होगा। उसने कहा था। लगा था यह शब्द कहने के लिए शायद उसे ढेर सा साहस बटोरना पड़ा था।

—हां, मौसी ने बताया था। दो दिन से इन्तजार कर रहा हूं। मैंने कहा था और फिर उसके चेहरे को देखने लगा था। —जाना पक्का है क्या ? कुछ दिन और भी तो रुक सकती हो ?

—तुम समझते हो खुशी से जा रही हूं, भैया लेने आये हैं, उनसे डरता पड़ता है, कोई और आता तो बात अलग थी। वह खामोश हो गयी। लगा था कुछ है जो उसकी पलकों

पर सिमट गया है। "जीतु, तुम्हारी बहुत याद आयेगी। अपने आपको व्यस्त रखना पड़ेगा। मैं तुम से केवल इतना कहने आयी थी कि जो हुआ, उसे हो सके तो भूलने की कोशिश करना। मैं समझती हूं तुम्हारा दुःख।" वह रोने लगी थी। पगली, रोने से भी कभी कुछ होता है। अगर कुछ होने वाला होता तो मैं बीजी को कभी भी मरने नहीं देता।

—जीतु, आण्टी कहती थी कि तुम वापिस जाने की सोच रहे हो। देखो, वहां अकेले बीजी की बहुत याद आयेगी। अकेले घुटते रहोगे—क्या फायदा। और फिर यहां तुम्हें तंगी भी क्या है?

—बिट्टी, जो जीवन से जुड़ा है, वह रहेगा। जो दर्द हैं, वे भी रहेंगे। जहां भी रहूंगा, साथ रहेंगे। फिर अकेले रहने और साथ रहने से क्या फर्क पड़ता है? दर्द तो दर्द है न। बिट्टी ने मेरा हाथ पकड़ लिया था। मैं जानता था कि मेरी बातें उसे दुःख देंगी। उसने घड़ी की तरफ देखा था; फिर एकाएक उठ गई थी—चलूं, भैया बाज़ार गये थे तो खिसक आयी थी। आने वाले होंगे, सुनो, हर सप्ताह पत्र लिखते रहना नहीं तो चिन्ता बनी रहेगी—अच्छा। वह चली गई थी। जाते समय सोचा था, पीछे मुड़ कर देखेगी कम से कम एक बार तो जरूर देखेगी। मगर उसने नहीं देखा था।

बहुत दिनों तक मन उदास रहा था। कहीं भी दिल नहीं लगता था। बस पागलों सा खोया-खोया पड़ा रहता। मौसी सब समझती। वह भाभी के साथ कहीं न कहीं घूमने भेज देती थी। ज़ोर-जबरदस्ती। भाभी भी गुमसुम मेरे साथ घिसटती रहती। मानो हवा के एक झोंके-सी बह जाती थी। कहीं कोई विरोध नहीं। हम कभी पहाड़ी मन्दिर पर चले जाते कभी पहाड़ी से नीचे नाले के किनारे, दरिया पर···जहां रास्ते में बिट्टी के मामा जी का घर है। जहां बिट्टी ने दो महीने गुजारे थे।

मन्दिर में कुछ खास नहीं था। बिट्टी भी यहां लाया करती थी। उसे एकाकीपन पसन्द था। भाभी को यहां आना अच्छा लगता है। किन्तु क्यों अच्छा लगता है, भाभी ने कभी कहा नहीं। मन्दिर की सीढ़ियां चढ़ कर सामने देहरी पर एक धूल से भरा शिवलिंग दिखाई देता है। भीतर कचरे का जमाव है जो शायद आंधी की देन है। दीवारों पर सीलन के निशान और घुटन भरी उमस है। जहां ताकों में गौरैया ने अपने घोंसले बना रखे हैं। और कहीं-कहीं चमगादड़ लटके हुए हैं। दीवार पर सीलन से अजीब-अजीब चित्र बनते-बिगड़ते हैं। कहते हैं, सन् सैंतालीस के दंगों में यहां के पण्डित की हत्या करके जंगल के पीछे पहाड़ी के नीचे फेंक दिया गया था।

भाभी सीढ़ियों पर बैठी रही। चुप गुम! मैं उनका कन्धा धीरे से हिलाता हूं किन्तु जैसे उन्हें मेरी छुअन का एहसास भी नहीं हुआ। बीजी भी जब बहुत दुःखी होती थी तो यूं ही चुपचाप अकेली बैठी रहती थी। तब मैं जान जाता था, उनका मन बहुत उदास है और उनकी गोद में लेट जाया करता था—क्या बात है बीजी? बीजी हल्के से मुस्कुरा देती थी—कुछ भी तो नहीं।

मैं जानता था, वह कभी भी अपनी किसी परेशानी का मुझ से ज़िक्र नहीं करेंगी। न ही पापा के अभाव के बारे में कुछ कहेंगी। किन्तु फिर भी उनके होंठों पर मुस्कान लाने में मुझे सफलता मिल ही जाती। किन्तु आज जब सोचता हूं, वह मुस्कान अपने आप में अधूरी क्यों रह जाती थी तो बीजी की मौत की याद हो आती है। अपना जीवन एक नासूर बना डाला था उन्होंने, जिसने उन्हें बहा दिया।

पापा की मृत्यु का मुझे कुछ भी पता नहीं। और पता चलता भी न, अगर प्रमाण के तौर पर बीजी न होती। बाद में बीजी से पूछा था तो पता चला था, किन्हीं अज्ञात शत्रुओं ने उन्हें योजनाबद्ध तरीके से मार डाला था।

—'जीतु, चलो रात हो गई है। भाभी पुकार रही थी। भाभी के बाल हवा के झोंकों से बिखरे जा रहे थे। नीचे सड़क पर लैम्पपोस्ट जगमगा उठे थे। —रो रहे थे क्या? भाभी ने मेरा चेहरा अपनी हथेलियों में दबा लिया था।

—नहीं तो। मैंने झूठ बोला था।

—कैसे नहीं? पागल, रोने से भी कुछ होता है? मुझे याद आया, जब बिट्टी रोने लगी थी तो मैंने भी ऐसा ही कुछ कहा था। नहीं, कहा नहीं था, शायद सोचा भर था। हम एक दूसरे को नसीहत कर सकते हैं किन्तु खुद उसका पालन करना कितना मुश्किल होता है।

रात को भाभी खाना लेकर आई थीं। आमतौर पर खाना मौसी लाती हैं, किन्तु जब भाभी कभी-कभी ले आती हैं तो मन को बहुत अच्छा लगता है। चूंकि खाना खाने के बाद जब बरतन समेट कर मौसी जाने लगती हैं तो सदैव जाने से पहले मेरे गाल चूमती हैं। मेरी दाढ़ी का खुरदरापन उन्हें महसूस होता होगा, मुझे तो शर्म महसूस होती है। इतना बड़ा हूँ और मौसी फिर भी बच्चों-सा चूमती हैं और मुझे बच्चा बनना पड़ता है। बीजी तो कभी ऐसा नहीं करती थीं?

उस रात बीजी बहुत याद आई थीं। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह बहुत मुर्झा गई थीं। पापा की तस्वीर पर पड़े फूलों-सी। अस्पताल में पहली बार वह रोई थी···अपना सर मेरी गोद में रख कर। —तेरे लिए दुःख ही छोड़ रही हूं बेटे···तू ही बता, मैं क्या करूं। वह बहुत बड़ा है न? भीतर कुछ घुटा-घुटा सा था। इस मौके पर भी बीजी को धीरज बंधाने के लिए दो शब्द नहीं कह सका था। जो कहना चाहता था, वह मेरे भीतर की घुटन और पीड़ा में पिघल गया था। तब लगा था, जब बीजी मरना चाहती थीं तो मर नहीं पाईं और अब जबकि मरना नहीं चाहतीं तो मर रही हैं—धीरे-धीरे। उफ, वह रात, उस रात के गहरे काले साये, जो मेरे जीवन के साथ बन्ध गये हैं, मुझे काटने को तत्पर। कैसे कोई भूल सकता है? एक कमरे में बीजी का शव औरतों में घिरा था और दूसरे कमरे में मैं मामा के पास टूटा-थका सा पड़ा था। वह टूटन-थकन एक अभिन्न भाग बन गये हैं मेरे जीवन के। बीजी क्यों मर गई? उन्हें तो अभी नहीं मरना चाहिए था। मैं अकेला रह गया न।

दूसरे कमरे से भाभी की सिसकियों की आवाज़ आई थी। फिर भाभी का अस्पष्ट, मद्धिम-सा स्वर जो समझ नहीं आया था। भैया ने ऊंची आवाज़ में कहा था—तो मां के पास चली जाओ न।

—आपने व्याह के लाया है, वहां क्यों जाऊं? आप यह सब छोड़ भी सकते हो, मुझ पर तरस खाओ तो। भाभी की आवाज़ में छटपटाहट के संग भीगा-भीगा-सा स्नेह था जो उनके अपने लिए था।

—जो तुम्हारे कारण बना है, उसे कैसे छोड़ा जा सकता है। भैया ने कहा था। लगा था, वह झुंझला से गये हैं।

—किन्तु इसमें मेरा क्या दोष है? घरवालों का तब विरोध करते। कमजोरी तुम्हारी अपनी है और भुगतना मुझे पड़ रहा है।

—सो जाओ रज्जो। तंग मत करो।

—कैसे सो जाऊं, मेरा जीवन नरक बन रहा है और मैं सो जाऊं।

—कहा न, मायके चली जाओ।

—क्यों जाऊं मायके, तुमने व्याह कर नहीं लाया है क्या मुझे?

—किसी दिन मैं तेरी ज़ुबान काट लूंगा। बहुत बक-बक करती है। दो घड़ी भी आराम नहीं करने देती।

—मुझे मार डालो, फिर आराम करना। किन्तु मैं जीते जी यह सब नहीं सह सकती। फिर जो चुप्पी छाई थी तो लम्बे समय तक बनी रही थी।

●

सुबह देर से उठा था। भैया काम पर चले गये थे। भाभी भी दैनिक कामों में व्यस्त थीं किन्तु अब उनके चेहरे की चुप्पी मुझे काफी जानी-पहचानी सी लगी थी। दोपहर को भाभी एक खत देने आई थी। —बिट्टी का खत आया है। खत देकर वह लौट गई थीं।

चिट्ठी में लिखा था कि उसका 'ठाका' दे दिया गया है। लड़का कपड़े का व्यापारी है। सब कुछ उसकी अपनी सहमति से तय हुआ है। अगर मैं वहां होता तो उसकी खुशी का अन्दाजा लगा सकता था। आगे लिखा था, काफी इन्तजार के बाद उसी को पहले पत्र लिखना पड़ा है। मैं जरूर पत्र लिखा करूं। और भी जो कुछ लिखा था, निरर्थक··· ।

भाभी ने पूछा था—क्या लिखा है बिट्टी ने। कैसी है?

—यही तो नहीं लिखा, भाभी कि कैसी है। उसका 'ठाका' दे दिया गया है, लड़का कपड़े का व्यापारी है। मैंने कहा तो भाभी हैरानी से मुझे देखती रह गई थीं।

—हां बिट्टू, कभी मेरे पिता जी ने भी मेरा 'ठाका' दिया था; फिर ब्याहा था, तुम्हारे भैया के संग। तब की रजनी आज कहां! हम सपने तो ले सकते हैं, बहुत सुनहरे, बहुत

सुखद ; किन्तु वास्तविकता सहन नहीं कर सकते न । तुम नहीं समझोगे । भाभी फीकी-सी हंसी हंसने लगी थी । किन्तु मैं सब समझता था । जो भाभी ने कहा था, वह भी और जो वह कहना चाहती थी और अनकहा रह गया था, वह भी ।

उस रात जाने का फैसला कर लिया था । सोचा था सुबह सवेरे चला जाऊंगा । छः की बस से । कपड़े अटैची में सम्भालने लगा था तो भाभी आ गई थीं । —कहां की तैयारी है ? भाभी का स्वर सदैव बुझा-बुझा सा क्यों रहता है ?

—वापस जाना है, सुबह । कुछ काम है वहां ।

—सचमुच चले जाओगे क्या ? मैंने देखा, भाभी की गहरी बोझिल पलकें भीग गई हैं । वह मेरे पास आकर खड़ी हो गईं और मैं एकटक उन्हें देखता रहा । उनमें कुछ था, जो मुझे अपने से जुड़ा हुआ लगा । क्या भाभी मुझे इतना चाहती हैं ? उन्होंने मेरा चेहरा अपनी हथेलियों में ले लिया और माथे को बार-बार चूमने लगीं— जीतु, मैं तेरे सहारे ही तो हूं यहां, और अब तू भी मुझे छोड़ जायेगा रे । भाभी ने मुझे अपने आप में भींच लिया था । "ऐसा कभी नहीं सोचना जीतु—कभी भी नहीं, तेरी बेसहारा भाभी मर जायेगी रे !" लम्बे समय तक उन्होंने मुझे भींचे रखा था ।

मौसी को जब मालूम हुआ था, मेरे जाने का, तो उन्होंने अटैची छीन कर सारे कपड़े-लत्ते निकाल दिये थे—फिर कभी ऐसा सोचा, तो समझना मौसी मर गई है, तेरे लिए ।

उस रात एक पत्र लिखा था—बिट्टी को । पहला और अंतिम पत्र ।

"बिट्टी,

हर व्यक्ति अपने-अपने ज़ख्मों की देहरी पर खड़ा मुस्कुरा रहा है । आज सोचता हूं तो हंसने के माने बड़े कृत्रिम और फिजूल से लगते हैं । हम जिसे पाने के स्वप्न देखते हैं, वह भी तो छलावा है, जो हम खुद अपने आप से करते आये हैं । और लगता है, हर व्यक्ति के दुःख किसी दूसरे की देन होते हैं । मेरे साथ जो जुड़ा है, बीजी-पापा की मृत्यु के बाद वह तुम्हारे कारण है । ...किन्तु उसे तुम पहचान कर भी पहचानने से इन्कार करोगी । भैया ने भाभी के संग जो नाता जोड़ रखा है, वह उसे महसूस करते हैं, किन्तु स्वीकारते नहीं । इतने सम्बंधों और अपनों के होते हुए भी हर व्यक्ति अपने-आप में इतना अकेला क्यों होता है, बिट्टी ? शायद तुम नहीं बता सकोगी तुमने तो अभी जीवन शुरू ही किया है ।

—जीतेन्द्र.

पता जब लिखा था तो शब्द आंसुओं से भीग कर बिखर गये थे ।

———

● ८६, रिहाड़ी कालोनी, जम्मू

दूसरे कमरे से भाभी की सिसकियों की आवाज़ आई थी। फिर भाभी का अस्पष्ट, मद्धिम-सा स्वर जो समझ नहीं आया था। भैया ने ऊंची आवाज़ में कहा था—तो मां के पास चली जाओ न।

—आपने ब्याह के लाया है, वहां क्यों जाऊं ? आप यह सब छोड़ भी सकते हो, मुझ पर तरस खाओ तो। भाभी की आवाज़ में छटपटाहट के संग भीगा-भीगा-सा स्नेह था जो उनके अपने लिए था।

—जो तुम्हारे कारण बना है, उसे कैसे छोड़ा जा सकता है। भैया ने कहा था। लगा था, वह झुंझला से गये हैं।

—किन्तु इसमें मेरा क्या दोष है ? घरवालों का तब विरोध करते। कमजोरी तुम्हारी अपनी है और भुगतना मुझे पड़ रहा है।

—सो जाओ रज्जो। तंग मत करो।

—कैसे सो जाऊं, मेरा जीवन नरक बन रहा है और मैं सो जाऊं।

—कहा न, मायके चली जाओ।

—क्यों जाऊं मायके, तुमने ब्याह कर नहीं लाया है क्या मुझे ?

—किसी दिन मैं तेरी ज़ुबान काट लूंगा। बहुत बक-बक करती है। दो घड़ी भी आराम नहीं करने देती।

—मुझे मार डालो, फिर आराम करना। किन्तु मैं जीते जी यह सब नहीं सह सकती। फिर जो चुप्पी छाई थी तो लम्बे समय तक बनी रही थी।



सुबह देर से उठा था। भैया काम पर चले गये थे। भाभी भी दैनिक कामों में व्यस्त थीं किन्तु अब उनके चेहरे की चुप्पी मुझे काफी जानी-पहचानी सी लगी थी। दोपहर को भाभी एक खत देने आई थी। —बिट्टी का खत आया है। खत देकर वह लौट गई थीं।

चिट्ठी में लिखा था कि उसका 'ठाका' दे दिया गया है। लड़का कपड़े का व्यापारी है। सब कुछ उसकी अपनी सहमति से तय हुआ है। अगर मैं वहां होता तो उसकी खुशी का अन्दाजा लगा सकता था। आगे लिखा था, काफी इन्तजार के बाद उसी को पहले पत्र लिखना पड़ा है। मैं जरूर पत्र लिखा करूं। और भी जो कुछ लिखा था, निरर्थक…।

भाभी ने पूछा था—क्या लिखा है बिट्टी ने। कैसी है ?

—यही तो नहीं लिखा, भाभी कि कैसी है। उसका 'ठाका' दे दिया गया है, लड़का कपड़े का व्यापारी है। मैंने कहा तो भाभी हैरानी से मुझे देखती रह गई थीं।

—हां बिट्टू, कभी मेरे पिता जी ने भी मेरा 'ठाका' दिया था ; फिर ब्याहा था, तुम्हारे भैया के संग। तब की रजनी आज कहां ! हम सपने तो ले सकते हैं, बहुत सुनहरे, बहुत

सुखद ; किन्तु वास्तविकता सहन नहीं कर सकते न। तुम नहीं समझोगे। भाभी फीकी-सी हंसी हंसने लगी थी। किन्तु मैं सब समझता था। जो भाभी ने कहा था, वह भी और जो वह कहना चाहती थी और अनकहा रह गया था, वह भी।

उस रात जाने का फैसला कर लिया था। सोचा था सुबह सवेरे चला जाऊंगा। छः की बस से। कपड़े अटैची में सम्भालने लगा था तो भाभी आ गई थीं। —कहां की तैयारी है? भाभी का स्वर सदैव बुझा-बुझा सा क्यों रहता है?

—वापस जाना है, सुबह। कुछ काम है वहां।

—सचमुच चले जाओगे क्या? मैंने देखा, भाभी की गहरी बोझिल पलकें भीग गई हैं। वह मेरे पास आकर खड़ी हो गईं और मैं एकटक उन्हें देखता रहा। उनमें कुछ था, जो मुझे अपने से जुड़ा हुआ लगा। क्या भाभी मुझे इतना चाहती हैं? उन्होंने मेरा चेहरा अपनी हथेलियों में ले लिया और माथे को बार-बार चूमने लगीं— जीतु, मैं तेरे सहारे ही तो हूं यहां, और अब तू भी मुझे छोड़ जायेगा रे। भाभी ने मुझे अपने आप में भींच लिया था। "ऐसा कभी नहीं सोचना जीतु—कभी भी नहीं, तेरी बेसहारा भाभी मर जायेगी रे!" लम्बे समय तक उन्होंने मुझे भींचे रखा था।

मौसी को जब मालूम हुआ था, मेरे जाने का, तो उन्होंने अटैची छीन कर सारे कपड़े-लत्ते निकाल दिये थे—फिर कभी ऐसा सोचा, तो समझना मौसी मर गई है, तेरे लिए।

उस रात एक पत्र लिखा था—बिट्टी को। पहला और अंतिम पत्र।

"बिट्टी,

हर व्यक्ति अपने-अपने ज़ख्मों की देहरी पर खड़ा मुस्कुरा रहा है। आज सोचता हूं तो हंसने के माने बड़े कृत्रिम और फिजूल से लगते हैं। हम जिसे पाने के स्वप्न देखते हैं, वह भी तो छलावा है, जो हम खुद अपने आप से करते आये हैं। और लगता है, हर व्यक्ति के दुःख किसी दूसरे की देन होते हैं। मेरे साथ जो जुड़ा है, बीजी-पापा की मृत्यु के बाद वह तुम्हारे कारण है। ...किन्तु उसे तुम पहचान कर भी पहचानने से इन्कार करोगी। भैया ने भाभी के संग जो नाता जोड़ रखा है, वह उसे महसूस करते हैं, किन्तु स्वीकारते नहीं। इतने सम्बंधों और अपनों के होते हुए भी हर व्यक्ति अपने-आप में इतना अकेला क्यों होता है, बिट्टी? शायद तुम नहीं बता सकोगी तुमने तो अभी जीवन शुरू ही किया है।

—जीतेन्द्र.

पता जब लिखा था तो शब्द आंसुओं से भीग कर बिखर गये थे।

———

● ८६, रिहाड़ी कालोनी, जम्मू

कविता

सीमित सत्य

—मुहम्मद परवेज़

इस फ्लोर-शो के बाद
कोई किसी का नहीं
साथी···साथ।

इस मंच पर रहते भी
अपनी-अपनी कुर्सियों में अजनबी
पहचानतीं नज़रें वापिस लौटतीं
एक-दूजे को
आवाज़ों के वेटर
मजबूर मुस्कान फैंकते
क्षणिक
इस मुलाकात पर
सामयिक सामीप्य का उपहास नहीं !

मेरा सर्वदा से
खाली कुर्सियों का साथ है ··रह गया
साज़ों के स्वर रुकते ही

इस हाल में
पांच 'डल टेबुल्ज़' को घेरे
रिक्त ये कुर्सियां
और अधूरे या पूरे मगर
चुप भविष्य की टोह में
बैठे फिलासफरों के झुण्ड !

मैं पहचानता ··
पहचान नहीं पा रहा
एक कोने की टेबुल पर पड़ा ऐश-ट्रे
राख और बिट्स से भरा
ज़रदाया ··
मुंहफटा फिर भी मुंह फाड़े
समय का सत्य सिमेटे हुए
अब किसी का नहीं।

——

● द्वारा हिन्दी विभाग,
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

कहानी

एक दुनिया और

—अमित शर्मा

"किसी को कुछ पूछना हो तो बाद में मिल ले।" प्रोफेसर ने कहा था और छात्र एक-एक करके बाहर जाने लगे थे। प्रवेश ने भी फाइल संभाली और उदेश के कन्धे पर हाथ रखे बाहर निकल गया। उदेश कह रहा था—"यार वह कल वाले नोट्स तो मैं लाना ही भूल गया।"

उसे सब मालूम है। प्रवेश सोचता है। घर में किताबें पटक कर जनाब को ताश से तो फुर्सत नहीं मिली होगी और कह रहे हैं, भूल गया। उसका मन करता है कि सब कुछ कह दे पर कह नहीं पाया। बस हल्की सी 'हूं' करके ही रह जाता है वह। यह तो उसके अन्दर का प्रवेश था जो उसे सब कुछ कह देने के लिए उकसा रहा था। वह प्रवेश, जिसने अपने ऊपर कोई जामा नहीं ओढ़ रखा था, कोई नकाब नहीं डाल रखा था।

"अरे! कहां खो गए? जिसके ख्यालों में हो वह तो सामने ही है।" उदेश कह रहा था।

प्रवेश चाहता है कि उसे जोर से थप्पड़ मार दे, पर किसी लड़के को थप्पड़ मारना और वह भी लड़की के सामने···नहीं, नहीं! यह तो निश्चय ही असभ्यता, नई दुनिया की सभ्यता के प्रतिकूल। इस बार भी वह चुप लगा जाता है। बस कन्धे से हाथ हटा कर निशा के पास चला जाता है जो लान में बैठी इसका इंतज़ार कर रही है। वह आज उससे भी कोई बात नहीं करना चाहता था। वह नोट्स देता है और वह चुपचाप ले लेती है। पिछले ६ साल से वे दोस्त हैं पर प्रेमी नहीं। वह उसका स्वभाव अच्छी तरह जानती है। उसे मालूम है कि वह इस वक्त कुछ भी नहीं बताएगा। वे कुछ कदम साथ चलकर अलग हो जाते हैं—कालेज के बाद उसका रास्ता अलग-थलग हो जाता है।

प्रवेश अब घर की तरफ बढ़ने लगा है। उसके कदम आज फिर उस ओर बढ़ रहे हैं जहां वह कभी भी जाना नहीं चाहता फिर भी हर रोज चला जाता है। वह घर जिसमें उसके मां-बाप, भाई-बहन रहते हैं लेकिन जिन्हें वह अपना मानने में असमर्थ रहा है। किसी से मन की बात नहीं कह पाता है वह। एक डर सा पीछा करता रहता है। हां—वह घर वालों से

डरता है, सबसे डरता है। लेकिन हर आदमी दूसरे आदमी से तो डरता ही है। हमें डर होता है कि कोई हमारा नकाब उतार कर हमारी असलियत न देख ले।

"अरे! उल्लू हो क्या ?" उसे मानो होश आता है। एक कुमारी जी उसे टकराने के अपराध में उपाधि दे रही थीं। वह फिर से उसी दुनिया में लौट आता है और सम्भल कर चलने लगता है। धीरे-धीरे घर पास आ गया है। वह दरवाज़ा खोल कर कुर्सी पर निढाल सा गिर जाता है।

घर में भी एक अजीब सा दृश्य दिखाई देता है। मुन्नी रो रही है और राजू किताब पढ़ने की कोशिश में किताब को एक तरह से फाड़ रहा है।

"जनाब, बैठो नहीं ; पहले राशन ले आओ।"

मां का तीखा चिड़चिड़ा स्वर सुनाई देता है और मां थैला व दूसरी ज़रूरी चीज़ें उसके सामने पटक कर कपड़े धोने चली जाती है···उसके उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना।

आखिर मुझे ही यह सभी कुछ करने को क्यों कहा जाता है ? मेरे इलावा और भी तो कई हैं इस घर में। वह सोचता है। वह अभी-अभी कालिज से आया है लेकिन उसके सिर पर प्यार से हाथ फेरने वाला कोई नहीं। बड़े अनमने भाव से वह थैला उठा कर फिर से उसी सड़क पर चलने लगता है। वह सड़क जिस पर उसने खेलना सीखा, साइकिल सीखी, उस सड़क के साथ न जाने उसकी कितनी ही कड़वी-मीठी यादें जुड़ी हैं लेकिन उस सड़क में गड़े तब के पत्थर तो कब के टूट चुके हैं। उसका सिर चकराने लगता है। वह सोचना बंद करना चाहता है। लेकिन सफल नहीं हो पाता। आहिस्ता-आहिस्ता उसके चक्कर तेज़ होने लगते हैं। वह चौंक कर घड़ी की तरफ देखता है। उसकी घड़ी की सूइयां उसे उस रास्ते पर चलने के लिए मज़बूर कर रही हैं जिस पर कि उसने लगभग एक महीना पहले कदम रखा था। वह दिन जब उसने चिलम के धुएं में अपनी सारी परेशानियां उड़ा दी थीं आज उसे कितना सता रहा है। वह उस रास्ते को छोड़ देना चाहता है, अतः किसी तरह राशन घर पहुंचा कर बिस्तर पर लेट जाता है। मां की डंडा चलाने की आवाज़ आ रही है। इतने में दरवाज़ा खोल कर पिता जी अन्दर आते हैं। वह मार्क करता है कि पिता जी के बाल कितनी जल्दी सफेद हो गए हैं। सात बच्चों और बीवी का बोझ ढोते हुए उनकी पीठ दोहरी हो चुकी है। अब वह प्रायः गुमसुम ही रहते हैं। मानो पिता-पुत्र दोनों ही चुप रहने का काम करते हों। परन्तु तभी फिर जोर का चक्कर आया है। वह इन चक्करों का इलाज शर्मा क्लीनिक पर जाकर नहीं करवाना चाहता। अतः संभल कर बैठने की कोशिश करता है परन्तु अचानक उसके मन में एक ख्याल आता है। वह पिता जी से डॉक्टर शर्मा के पास जाने के लिए पैसे लेकर निकल जाता है और चल पड़ता है एक नव मित्र के यहां। वह किसी भी डॉक्टर के पास नहीं जाना चाहता। यह डॉक्टर तो सनकी और अनुभवहीन हैं। उसका निरीक्षण तो कर पाते नहीं और दवाइयों की लम्बी लिस्ट ऐसे थमा देते हैं जैसे वही सब कुछ हों। वे नहीं जानते कि उसे दवाइयों की नहीं एक सच्चे दोस्त की ज़रूरत है। वह दोस्त जिस से वह दो

बातें कर सके, जिसने कोई लबादा न ओढ़ रखा हो। उसका दिमाग अब पूरी तरह से थक चुका है। वह चाहता है कि उड़ कर अपने उस नव-मित्र के यहां पहुंच जाए जहां उसे पल भर के लिए परेशानियों से छुटकारा मिल जाता है, पर वह धीरे-धीरे चल कर ही वहां पहुंचता है। वह कमरे में दाखिल होता है। उसका नव-मित्र जो शायद पहले से ही उसके इंतज़ार में था उसे गांजे से भरपूर एक सिगरेट थमा देता है और डॉक्टर की फीस उससे लेते हुए एक साधारण सिगरेट मुंह में लगा लेता है और बारी-बारी अपना और चारपाई पर लेटे प्रवेश का सिगरेट जला देता है और कुछ ही क्षणों बाद प्रवेश अपने को एक दूसरी रंग-बिरंगी दुनिया में प्रवेश करता हुआ पाता है।

"अरे! कौन है भई ऐसा कि जिसके ख्यालों में यूं खोए हो," और उसका नया मित्र ढेर सा धुआं उसके चेहरे पर छोड़ देता है। धुएं में उसका पूरे का पूरा मुंह छिप जाता है पर धीरे-धीरे धुआं शून्य में विलीन हो जाता है और साथ ही उसके दिल का गुबार भी।

———

● शास्त्री नगर, जम्मू

दो कविताएं

—सुजाता गुप्ता

दर्द की भाषा

सरकते वक्त के साथ कुछ पल हैं,
जो पांव समेट ठहराव मांगते हैं,
सदा शिशु होना चाहते हैं—
मां की गोद में किलकते,
नन्हें हाथों को फैलाते,
निश्छल आंखों से बुलाते
वे पल
जो हरी-हरी दूब पर
ओस बूंदों से खिले-खिले रहते हैं।

पहचान के घनेरों में
इतना चलने के बाद
बिछुड़ने की पीर
हवाओं को दे जाती है पंख
देहरी बिछाती है द्वार-द्वार
खामोश सफर के रास्तों में
धरती बीनती है नींव के पत्थर
और बांचती है आकाश पर लिखी भाषा

———

संक्रमण काल

पहाड़ी सांझ–विधवा सी
थकी-मांदी
ढोती रही दिन का सामान,
अब लौटती अपनी झोंपड़ी को—

लम्बी कतारों में उगे
चीड़ वृक्षों की सांय-सांय
उसकी गूंजती कराहटें,
सूरज ढलता—
सामने धौलाधार की पहाड़ियों पर
चमकती बर्फ विधवा का सुहाग छीन
सिंदूरी हो गई है।

उसका सतरंगी इन्द्रधनुषी दुशाला
आकाश ने ओढ़ लिया है ;
रंगीन धूप उसकी झोली में से उठ
चुपचाप भाग गई है
आंखमिचौनी खेलने पर्वतों के पीछे
उसे अकेला छोड़
चितकबरे बादल घूमते हैं आवारा
निस्हाय जान,
लेकिन अब बीसवीं सदी की यह सांझ
अपने नव-जीवन निर्माण हेतु
सरकती जा रही है रात के पहलू में।

———

● २०-ए, बी० सी० रोड, जम्मू

घर—टूटा हुआ

—जवाहर रैना

इकत्तीस वर्ष पुराना
हो गया है
मेरा घर ।
घर
न जाने क्यों
मुझे
वैसा ही दिखाई देता है
जैसा
पहले हुआ करता था
किन्तु
मैं
अब पहले से कहीं ज्यादा
कमजोर हो गया हूँ—
बूढ़ा हो गया हूं—
शायद ?

इसीलिए उसका उखड़ा
प्लास्टर
और
दरारें
मेरी नजरों से
ओझल रह जाती हैं।

घर !
एक बार बनने के बाद
क्या
वैसा ही बना रहता है
सदा सदा के लिए ?
क्या उसे वैसा ही
रहना होता है
जैसा हम चाहते हैं ?
उसे सहेजने के लिए
बहुत कुछ करना
होता है हमें

शायद—
हमने वह नहीं किया
जो हमें करना चाहिये था !

घर को
बनाने की, संवारने की
सारी योजनाएं
कागज पर
ठिठक कर रह गई हैं
सीमेंट और लोहा
कालाबाजारियों के गोदाम में
अटा पड़ा है
और
मेरे घर की दीवारों में से
फूटते
कारनिवोरस वृक्ष
और आदमखोर
मेरा मांस
तथा
हड्डियां
खाते और चबाते जा रहे हैं—
मैं बेबस
अपने को नुचता हुआ
देख रहा हूं—
निस्सहाय।

● मुट्ठी ग्राम, जम्मू

दो कविताएं

नन्हा वयस्क

— निर्मल पुरी

छः साल में ही
वयस्क हो गया है
मेरा मुन्ना—
कितनी खुशी की बात है।
कोमल है उसका तन
और भी कोमल है—मन
जिस पर लादा जा रहा है बोझ
ज्ञान, विज्ञान का,
कला, साहित्य और अपरिमित
अज्ञान का
कि वह समय की
सचाइयों को झेल सकने में
हो सके समर्थ !
सिखाया जाता है उसे
"सहनशक्ति धारण करो
ताकि प्रखर हो सके तुम्हारी मेधा
अस्वाभाविक रूप से ही सहो।"
नन्हा वयस्क
तुतलाता है
सोते हुए भी यही सब चिल्लाता है—
'टूट रहा हूं मैं
भीतर ही भीतर।
कोई नहीं जानता—
कि बुढ़ापे का अगला पड़ाव मृत्यु है
जिसे मैं
कब तक अनदेखा कर सकूंगा—
कोई नहीं जानता ?"

——

● २०८-ए, पक्की ढक्की,
जम्मू

एक बात और

—क्षेमेन्द्र रैणा

एक बात और—
हमसफर
मधुर-सही ताल पे चल रहे
हमारे चार पैर
जब—
लगें बेताले—अखरें
या
हो जाऊं निरस मैं
और महसूस हो तुम्हें थकान—
खिसक जाना चुपचाप, तुम
किसी भी चिनार तले सुखा लेना
वह पसीना
जो, हो सकता है—
तुम्हारी छाती से फूट पड़े
कहकर–हाथ मिलाकर न होना विदा
रह जाये कोई फिंगर-प्रिंट शायद
पकड़ी जाओ
मैं भी तो रुक सकता हूं—सोचने

तुम खिसक जाना—चुपचाप

जानता हूँ इस पर भी—
उग आयेगा
मेरे चेचक के दागों भरे चेहरे पर
एक और दाग
वह हो जायेगा गडमड उन्हीं में
और हाँ—
मैं दर्पण घर भूल आया हूँ !!

● २७९, जवाहर नगर
श्रीनगर (कश्मीर)

महाविद्यालय के प्रांगण से

बादलों का प्यार

—रचना शर्मा

देखी है कभी तुमने
क्या बादलों की भली भली सी
मुस्कराहट
या फिर अंधेरी रात में
एकटक निहारते तारों को
झिलमिलाहट !
पर्वतों की सफेद चोटियों से
कैसे
लिपट-लिपट जाते हैं बादल—
क्या इसी को कहते हैं प्यार करना ?
चोटो पर घिरे बादलों का
लहरा कर बरस पड़ना
मन को ऐसा क्यों लगता है
कि वह चाहते हैं
रूठे हुए प्यार से
मनुहार में भरकर
झगड़ना !
बरसते हुए घने काले बादलों के
सीने से लगे
पर्वत को देखकर
बोलते हैं अपने अपने घरों में
दुबके हुए तारे—
बरसते रहना…यूं ही
मगर
प्यार कभी कम न करना !

——

● डिग्री कालेज, उधमपुर

गुल हजारा

—मंजू गोस्वामी

एक दिन
फूटा अचानक
एक अंकुर
एक नन्हें बीज से !

दूसरे दिन
दो हुए दल
और
दो दिन बाद निकलीं
पत्तियां दो-दो—
सभी में ··
देखते-ही देखते
पूरी क्यारी
हो गई थी हरित ··हर···हर··· !

आज के सुकुमार पौधे
कल सुमन देंगे—
मृगी सुन !
चर न जाना
जान इनको बेसहारा
देख
उपवन में हमारे
खिल रहा है—
गुल हजारा !

——

● डिग्री कालेज,
उधमपुर

तीन कविताएं

'कब से मेरी वीणा नीरव'

— ऋतु विज

कब से मेरी वीणा नीरव
भर दो उसमें तुम अपने स्वर
स्वर लहरी को झंकृत कर दो
गान सुना दो तुम फिर सुन्दर

जीवन में प्रिय पा जाने को
चिर युग से ही प्राण हैं आकुल
प्रिय पाश में बंध जाने को
भोला उर है कब से व्याकुल
आकुलता की प्यास बुझाने
जीवन को तुम दे दो मधुरव।

मूक हृदय की आकुल आहें
कहतीं उर की करुण कथाएं
स्मृति अचल विश्वास मेरा
विस्मृत गीतों में बह जाए
प्रेम की इस शून्य भित्ति पर
विरह तूली से चित्र बनाये
व्यथा के दृगंचल सम्भाले
जाने कितने नीड़ बसाये
नीड़ों को गुंजरित करने को
भर दो तुम अपना मधु कलरव

——

● डिग्री कालेज
उधमपुर

पहाड़

—पुरुषोत्तम कुमार सलगोत्रा

पहाड़—
तुम कितने कठोर
औ' पाषाण हृदय हो
कि, वक्ष से सटी सुकुमार
चंचल, प्रेयसी को
अपने हाथों से अलग कर
समतल में फेंक देते हो !
और, स्वयं—
तनने की मुद्रा बनाये, खडे —
अकड़े रहते हो !

——

● द्वारा देसराज, टेलर मास्टर
गांव फलाटा, पो० गढ़ी, उधमपुर

ज़िन्दगी : दो अनुभूतिय

—जगजीत राय

एक

नृत्यलीन नृतकी के पग में बंधे हुए
घुंघरुओं की लड़ी से
फूटता बोल—
नियंत्रित !

दो

कंगाल की हांडी में
चारा खोजती
अंधी बिल्ली—
एक असीम
निष्फल
आस में लीन !

——

● एफ-११४, शक्ति नगर, जम्मू

दो कविताएं

शत्रु की पहचान

—उषा कुमारी अबरोल

बवंडर
ख्वाबों की दुनियां से निकलकर
घूमने लगा है
सड़कों
पगडंडियों पर !

क्यों
आता है यह बवंडर—
शहर की गलियों में ?—
क्या लोगों का सुख
सीमाएं लांघ रहा है
या
दुख का सागर
जीवन को पाट रहा है !

काश !
बवंडर बता पाता
अपने नियंता की इच्छा—
आने का प्रयोजन...
अपने शत्रु की पहचान करके
शायद
सुखी हो सकते थे हम !

——

● म्यूनिसिपल बिल्डिंग
१७५, पक्की ढक्की, जम्मू

फासले

—राजू आनन्द

शहर से बहुत दूर
इक निर्जन में आ पहुंचे
जिसको कभी सोचा न था
उस हालत को हम जा पहुंचे ।

कितना रुके
कितना चले
अब तो कुछ भी याद नहीं है
गुलशन ढूंढ रहे थे
लेकिन
वीराने तक जा पहुंचे ।

किसे पुकारें, किसको भूलें
दुविधा में रहता है मन—
कोई हमें कहीं न कह दे
बिना कहानी खत्म किए तुम
क्यों मंजिल तक आ पहुँचे !

——

● आनन्द विला
कर्ण नगर, जम्मू

कविता

नारी तेरे रूप अनेक

—वीणा जुत्शी

नारी पुरुष के साथ रहो सदा
हर पग पर दिया उसे सहारा
खुद दबकर बना दिया उसे तारा
शक्ति बनकर राम की सीता
भक्ति बनकर कृष्ण की मीरा
कोंपल को खून से उसने सींचा
ममता से उसे अपनी ओर खींचा
कोंपल का रूप फूल बन गया
नारी का स्वप्न साकार हुआ
पर धूल बन गया।
ये देखकर बन गई वह आली
खून चूसकर वह बन गई 'काली'
यह देखकर शिव ने उसे धमकाया
देखकर शिव को डरावनी सूरत
बन गई फिर से प्यार की मूरत !

● करफली मोहल्ला, हब्बाकदल,
श्रीनगर

उर्दू

ग़ज़ल

—नीरा राजपूत

थक चुकी हूँ वक्त से पहले मुझे जगाओ न
झूठी तसल्लियों से अब फिर दिल मेरा बहलाओ न
भीगा रहा अश्कों में मिरी हसरतों का पैरहन
सूखता दामन मिरा अब अश्क और बहाओ न
सिसकता था ज़ख्मी दिल हर चौखट पे जो सिजदा किया
कोई दर मिरा न था, मदफन भी अब बनाओ न
करो चिरागां अब वहां बसते हैं लोग ज़िन्दा जहां
हूं मुर्दा रूह कब्र मिरी पे शम्मे जलाओ न

● जोगी गेट, जम्मू

पुस्तकें और पुस्तकें

★

अंधेरे के बावजूद[1]

कविता का प्रमुख गुण उसकी प्रेषणीयता है। बिम्ब और प्रतीक के घोटाले में प्रेषणीयता की यह कहकर हत्या कर दी जाए कि कविता को समझने के लिए उन बिम्बों, प्रतीकों की गुंजलक खोलना पाठक का काम है ईमानदार कविकर्म का अंग नहीं माना जा सकता। खुशी की बात है कि **'अंधेरे के बावजूद'** की कविताएं **समझ** के लिए उस तरह के जिमनास्टिक्स की मांग नहीं करतीं।

सन् पचहत्तर में भारत के इतिहास में उस आपातस्थिति की घोषणा हुई जिस पर लिखी विभिन्न कवियों की कविताओं को **'अंधेरे के बावजूद'** का कवि स्वयं 'काला इतिहास' में संकलित कर चुका है। लेकिन 'काला इतिहास' में मुझे ऐसी बहुत कम कविताएं मिली थीं जैसी इस संग्रह की अनेक कविताएं हैं जो अनुभूति को पूरी गहनता के साथ इस तरह व्यक्त करती हैं कि कहीं भी मुलम्मे का शक नहीं होता है। 'पिरामिड' की कुछ पंक्तियां देखिए :—

"एक पर एक लहर / जनता घिर रही है उत्साह में / सदियों उधर।। एक पर एक लहर / जनता गिर रही है / उत्साह में सदियों इधर।। लोग काम में जुटे हैं / बिना जाने कि वे क्या बना रहे हैं / लोग जा रहे हैं / बिना जाने कि वे कहां जा रहे हैं।"

'उपनगर में वापसी' के 'वक्तव्य' में बलदेव वंशी ने लिखा था, "आज कविता मेरे तईं मानवीय संकट—अन्याय—हिंसा के विरुद्ध लड़ी जा रही व्यापक, बहुमुखी लड़ाई में हिस्सेदारी का माध्यम है"। इसी हिस्सेदारी की गवाही देती हैं **'अंधेरे के बावजूद'** की कविताएं। सन् पचहत्तर और अठहत्तर के बीच की यह रचनाएं सामयिक परिस्थितियों के साथ पूरी तरह जुड़ी हुई हैं; ये उन्हीं से उपजी हैं, उन्हीं की बात बेलौस और बेलाग ढंग से करती हैं और इस तरह माना जा सकता है कि यह पुस्तक आज की कविता का प्रतिनिधित्व करती है। बाहरी परिस्थितियों का अन्तर से जुड़ाव और उसका भाषाई अभिव्यक्ति तक रूपांतरण इन कविताओं में इस

१ अंधेरे के बावजूद : बलदेव वंशी / पृष्ठ ४४ / साहित्य भारती, के-७१, कृष्ण नगर, दिल्ली-११००३२ / मूल्य : बारह रुपये।

सिधाई और सफ़ाई से हुआ है कि पाठक को महसूस होता है : आज कविता को यही भाषा दरकार है। कवि तो इस बारे में अपने अलग-अलग फतवे देते ही रहेंगे, फतवे जो महज़ कमजोर ढालों से ज्यादा कुछ नहीं होते, फतवे जो हमें महज़ कछुए बनाकर रख देते हैं ।

पूरी जनता की मानसिकता सरल शब्दों में बिना घुमाव फिराव के कह देना और पाठक को प्रभावित कर सकना बलदेव की इन कविताओं की विशेषता है 'जलियां वाला बाग देखकर' कवि सोचता है, उस वक्त भी कुछ लोगों ने इन्कलाब के नारे लगाए थे, आज भी कुछ लोग नारे लगा रहे हैं : '**चारों ओर उठे ऊंचे इन भवनों के घेरे में/इस बाग में/ वे लोग कौन थे / ये लोग कौन हैं ?**'' इन पंक्तियों में प्रयुक्त **भवन, बाग** और **लोग** शब्द जो अर्थ हमारे सामने पटकते हैं—वे सीधे और सपाट होने के बावजूद बहुआयामीय और बिम्ब की सारी शक्तियों से भरपूर हैं । जहां कहीं कवि, भाषा की तलाश में हकला जाता है, वहां उसने हकलाने का बहाना नहीं किया; भाषा का चुक जाना अर्थ की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन गया है ;इस हकलाहट ने उसके मन की मजबूरी को, अन्दर और बाहर के अवसाद को पूरी कड़वाहट और तीक्ष्णता से प्रकट किया है :

''ये देश नहीं / क्योंकि ··· क्योंकि ··· ।। जंगल नहीं फिर भी ·· / × × × आखिर यह है क्या ?''

महाकाव्योपयुक्त विवरण और गीत की प्रभविष्णुता को बहुत थोड़े शब्दों में बांध देती है आज की कविता । एक उदाहरण देखिए :

''होता केवल यह है / कि दृश्य बदल जाते हैं ।''

सारे तामझामी 'होने' के साथ 'केवल' निपात का प्रयोग जबरदस्त कंट्रास्ट देता है और बात बड़े सीधे ढंग से कह दी जाती है—कुछ होता नहीं, मात्र दृश्य बदलते हैं । मन में कितनी ऊब है, कितनी निराशा है, कुछ कर न पाना—कुछ हो न पाना किस सीमा तक हावी हुआ है, इसे सिर्फ तीन पंक्तियों में व्यक्त किया गया है और इन तीन पंक्तियों में केवल दो ''संज्ञाएं'' हैं : **घर** और **सपने** :—

''इस घर में / अच्छे या बुरे सपने / अब किसी को नहीं सताते ।''

'सपने आना' और 'सपनों द्वारा सताया जाना' कितना अलग होता है, हम सब जानते हैं। आज के कवि को मूल समस्या यह है कि अपनी असंख्य अनुभूतियों का करे क्या ? संवेदनशील होने के कारण परिस्थितियों से वह प्रभावित होता है, प्रश्नों पर विचार करना उसकी नियति है; बात का अंदाज ऐसा भी न हो कि नारा या गाली बनकर रह जाए । बलदेव वंशी ने 'लगातार बारिश' कविता में इन्हीं प्रश्नों को उठाया है : - **सोचता हूं इन्हें बिम्ब-प्रतीक-संकेतों में कैसे बांधूं कि दिवारें भी न उघड़ें / और लोग उन्हें देख भी लें** । वस्तुतः इसी प्रकार की रचनाएं साहित्य के नये इतिहास में आज के युग को कविता का युग करार देंगी ,

इस मोड़ से[1]

"इस मोड़ से" पुस्तक के 'मुखबंध' में कवि कहता है, "साफ तौर पर ये (कवितायें) भीतरी-बाहरी अलग दो तरह की हैं; जिन्हें जोड़े है मानसिकता की एक पारदर्शी प्रतिक्रिया।" मैंने इस वक्तव्य को समझने की बहुत कोशिश की है; खेद है कि कविता को भीतरी और बाहरी विशेषणों से नत्थी करके अलगाने की यह व्यवस्था मेरे पल्ले नहीं पड़ी।

इन कविताओं से मुझे न तो किसी मोड़ का परिचय मिलता है, न किसी नयी दिशा का संकेत दिखाई देता है। अक्सर कवितायें काफी सतही हैं और कहीं भी नई मिट्टी तोड़ती प्रतीत नहीं होतीं। कुछ कविताओं में कवि क्रांति की बात करता है घिसे-पिटे ढंग से। 'तूफान-तबाही' में शेली की 'पश्चिमी आंधी के नाम' को स्पष्ट देखा जा सकता है। शेली ने सूखे पत्तों का प्रतीक लिया था तो जोशी ने तिनके का :

"तिनकों की तकदीर की शक्ल / मेरी शक्ल से मिलती-जुलती है / जिसने भी तूफान में उड़ते तिनकों को देखा है मुझ जैसों को ही देखा है।" हां, यहां भाषा और शैली की वह उदात्तता नहीं है जैसी शेली जैसे क्रांतिद्रष्टा कवि की ही हो सकती है। यह दूसरी बात है कि शेली की ही भांति जोशी को भी अंततः निराशा हाथ लगी है : **यात्रा / बाहर की भी / कब पूरी होती है। × × × यात्रा / जब भी पूरी होती है / मन की होती है।**

प्रायः कवि बात शुरू करके भाषा और बिम्ब पर अपना अधिकार खो देता है। 'संगीन सवालात' के बारे में बात का आरम्भ तो वह सशक्त ढंग से करता है लेकिन जब वह कहता है, **"किसने कील दी है जुबान / जबरदस्ती।। टेप करके राष्ट्रगान"** तो लगता है स्तर काफी हल्का हो गया है। 'जनता और जंगल का इश्क' जैसी कविताओं में कवि को काफी हद तक सही अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है यद्यपि यहां भी कविता नारे के नजदीक बनी रह गयी है : **"जनता की दुश्मनी / जंजीर से है / जंजीर / जिनके हाथों में होगी जनता उन्हें नहीं बख्शेगी।"** (शायद यह 'बाहरी' कविता का उदाहरण है !)

अनेक कविताओं में कवि का 'स्व' प्रधान रहा है (आन्तरिक कवितायें ?) वह उमंग जगाने वाली धूप अपनी आंखों से उतरते देखता है, हर खुशी जैसे उसके अपने मन से उगती है। कुछ कविताओं, जैसे 'मां', में वह सीधे रूप में वैयक्तिक वेदना की बात करता है—**"मां को तपेदिक हुई थी —वो गोश्तखोर नहीं थी / मर गई"**। यह शोकपूर्ण अनुभूति की वह अभिव्यक्ति नहीं है जो उसे कविता बना दे।

कुछ रचनायें मात्र शब्द-चमत्कार पैदा करती हैं। "अभी नहीं अंत" में अभी-अभी की दुहरावट फिल्मी धुन की याद दिलाने लगती है। अध्यापकीय शब्दावली यथा 'अरे ओ रसराज', 'रसौ वै सः', 'काव्यदर्पण' का कविताओं में जड़ना कवि की अपनी भाषाई संरचना का परि-

---

१. इस मोड़ से : जीवन प्रकाश जोशी / पृष्ठ ९४ / संधान प्रकाशन, ई-५३ अमर कालोनी, लाजपत नगर, नई दिल्ली / मूल्य दस रुपये।

चायक कैसे बन सकता है ? मनोरम दृश्य के एक ग्रंकन में फुटनोट में प्रसाद का संदर्भ देकर शायद लेखक ग्रनुसंधान के मूलभूत सिद्धांतों पर अपना अधिकार जताना चाहता है । बादलों से वह ऐसी बाढ़ देने की प्रार्थना करता है 'जैसी मनु को दी थी ।'

लेखक ने ग्रपनी रचना को कविता बनाने के लिए बहुरंगी प्रयोग किये हैं । 'भूलें यादें' में शबाब / खयाल / इन्तजार / चुपचाप ·· एक ही 'वज़न' के शब्दों का प्रयोग गैरज़रूरी लगता है । सिर्फ छन्द तोड़ना नई कविता नहीं है । शब्दावली अनुभूति की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति न बन पाए तो उसे कविता की शब्दावली नहीं माना जा सकता : "इस समय ।। जल / थल / अनल / ग्राकाश का अनुभव / केवल आक्सीजन होता है ।" उपमायें और प्रतीक भी स्वयं में कवितायें नहीं बन पाते; वे कविता के सर्वस्व नहीं होते । यही कारण है कि 'हस्पताल में होना' कविता हस्पताल का वातावरण पूरी संवेदना के साथ ग्रंकित नहीं कर पाती ।

इस पुस्तक में मुद्रण की जगह 'साइक्लोस्टाइलिंग' का आश्रय लिया गया है । प्रयोग सार्थक होता यदि इससे किताब की कीमत काफी कम हो सकती ।

कुल मिलाकर आधी दर्जन से अधिक कविता-संकलनों के लेखक से इस प्रकार की कविताओं की आशा नहीं की जा सकती । पुस्तकों की संख्या में वृद्धि लेखन के स्तर में भी वृद्धि करे, यह जरूरी है भी नहीं ।

—डॉ० ग्रोमप्रकाश गुप्त

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

अकादमी डायरी

- १२ से १४ मार्च १९८१ तक अभिनव थियेटर, जम्मू में नाट्य-समारोह का आयोजन किया गया जिसमें शहर की भिन्न-भिन्न क्लबों ने लड़ाई, चन्द्रमुखी तथा ग्यारह बजे नाटकों का मंचन किया।

- जम्मू की उदीयमान नृतकियों में कुमारी जागृति देवी का नाम सबसे पहले लिया जाता है। १७ मार्च १९८१ को अभिनव थियेटर, जम्मू में उन्होंने अकादमी के तत्त्वावधान में कत्थक नृत्य का ऐसा भावपूर्ण प्रदर्शन किया कि बरसों जम्मू के लोग उसे भुला नहीं पायेंगे। इस अवसर पर मुख्य अतिथि थीं मादरे-मेहरबान, बेगम शेख मुहम्मद अब्दुल्ला। बेगम साहिबा ने भी जागृति देवी के नृत्य की भूरी-भूरी प्रशंसा की।

- २५ मार्च १९८१ को अभिनव थियेटर, जम्मू में शास्त्रीय संगीत के प्रदर्शन का आयोजन किया गया जिसमें दिल्ली के श्री जितेन्द्र महाराज तथा उनकी शिष्याओं— कमलिनी और नलिनी (दिल्ली सिस्टर्ज़) ने कत्थक नृत्य प्रस्तुत किया।

- २६ मार्च १९८१ को लोकसंगीत की परम्परा को जीवंत बनाए रखने तथा लोकगायकों को नगरीय श्रोताओं से परिचित करवाने के लिए लोकसंगीत की एक विशेष सभा का आयोजन किया गया जिसमें प्रांत के सभी भागों से आई लोकगायकों की टोलियों ने भाग लिया।

———

शीराज़ा के स्वामित्व तथा अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण

फार्म ४

(नियम ८ देखें)

१.	प्रकाशन का स्थान	: नहर मार्ग, जम्मू तवी
२.	प्रकाशन की अवधि	: द्विमासिक
३.	मुद्रक का नाम और राष्ट्रीयता	: मुहम्मद यूसुफ टेंग, भारतीय
	पता	: जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू
४.	प्रकाशक का नाम, राष्ट्रीयता	: मुहम्मद यूसुफ टेंग, भारतीय
	पता	: जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू
५.	सम्पादक का नाम, राष्ट्रीयता	: रमेश मेहता, भारतीय
	पता	: जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू
६	उन व्यक्तियों के नाम एवं पते जो पत्र के स्वामी, भागीदार अथवा एक प्रतिशत से अधिक पूंजी के हिस्सेदार हैं	जम्मू एण्ड कश्मीर अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू

मैं, मुहम्मद यूसुफ टेंग, एतद् द्वारा यह घोषणा करता हूं कि उपरिलिखित विवरण मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार सत्य है।

हस्ताक्षर—मुहम्मद यूसुफ टेंग

Regd No. 28871/76 Sheeraza Hindi Bi-monthly|Mar. 1981



A Publication of :
J & K Academy of Art, Culture & Languages, Jammu
Printed at : Amar Art Press, Moti Bazar, Jammu.